जीवन-विकास

सस्ता-साहित्य-मण्डल

अजमेर ।

जीवन-विकास

[श्री सदाशिव नारायण दातार लिखित
मराठी पुस्तक का भाषान्तर]

अनुवादक

श्री मुकुटबिहारी वर्मा

प्रकाशक
जीतमल लूणिया
सस्ता-साहित्य-मण्डल
अजमेर

प्रथम बार २००० | १९३० | मू० १।), सजिल्द १॥)

मुद्रक
जीतमल लूणिया
सस्ता-साहित्य-प्रेस
अजमेर

कामना

हिन्दी में वैज्ञानिक साहित्य अभी बहुत समृद्ध नहीं है। विकासवाद का ज्ञान हिन्दी-भाषियों में प्रायः सीमित ही है। ऐसी दशा में मराठी-भाषा की "सजीव सृष्टी ची उत्क्रान्ति" शीर्षक जीवन-विकास की प्रस्तुत पुस्तक को हिन्दी-भाषियों के सम्मुख रखते हुए हमें हर्ष है। पुस्तक अपने विषय की मानी हुई चीज़ है। प्रोफ़ेसर सदाशिव नारायण दातार (एम० ए०, बी० एस-सी०) इसके लेखक हैं; और बड़ौदा की 'श्री सयाजी साहित्य-माला' ने अपने विज्ञान-गुच्छ में इसे गूंथा है, जो देशी भाषाओं के साहित्य की अभिवृद्धि करने के लिए ही श्रीमान बड़ौदा-नरेश की सहायता से अस्तित्व में आई है। इसके हिन्दी-अनुवाद के लिए श्रीयुत दातार और बड़ौदा-राज्य के विद्याधिकारी महाशय ने जिस उदारता के साथ सहमति और अनुमति प्रदान की है, उसके लिए हम उनके कृतज्ञ हैं। साथ ही पुस्तक के अधिकांश ब्लाक भी हमें उन्हींसे मिले हैं, जिसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं। विकासवाद के आचार्य चार्ल्स डार्विन का ब्लाक स्थानीय 'राजस्थान-सन्देश' को कृपा से मिला है, इसलिए वह भी हमारे धन्यवाद का पात्र है।

इस पुस्तक में हिन्दी-पाठकों को एक नई और मनोरंजक सामग्री पढ़ने को मिलेगी। जीवन-विकास की पेचीदा पर मनोरंजक बातें पढ़ते-पढ़ते कहीं उन्हें आश्चर्य होगा, कहीं हँसी आयगी, और कहीं क्रोध, आश्चर्य नहीं कि अन्त में वे बन्दरों को अपने पूर्व-पुरुष मानने को तैयार भी हो जायँ। वे ऐसा मानने को तैयार हों या न हों, इस पुस्तक से कुछ हलचल अवश्य मचेगी। क्या ही अच्छा हो, यदि उससे हिन्दी-संसार में इस विषयक विशेष ज्ञान की लालसा उत्पन्न हो जाय! ऐसा हुआ तो एक-न-एक दिन हम किसी स्वतंत्र निर्णय पर अवश्य पहुँच सकेंगे। ऐसी लालसा उत्पन्न हो, यही हमारी कामना है।

प्रकाशक

क्या से क्या ?

बन्दर से मनुष्य का निर्माण हुआ—यह एक ऐसी बात है कि हम आश्चर्यमग्न हो जाते हैं। हम मनुष्यों के पूर्व-पुरुष बन्दर ! यह सुनकर, हममें से किसे रोष न आयगा ? कहाँ तो हम वाणी और बुद्धि वाले सभ्यताभिमानी, और कहाँ बेचारे मूक और अशिक्षित जंगली पशु ! उनका और हमारा क्या सम्बन्ध ? – फिर, सम्बन्ध भी कैसा, वे हमारे पूर्व-पुरुष और हम उनकी सन्तति ! इस बात पर हममें से किसे यक़ीन आयगा ? परन्तु जिस बात पर हमें सहसा विश्वास न होता हो, सरसरी नज़र से देखने में जो हमें प्रायः असम्भव लगता हो, क्या यह ज़रूरी है कि वह असत्य ही हो ? बहुत बार हमारी बुद्धि धोखा खाती है; और जो बात हमें निश्चित-रूपेण सत्य प्रतीत होती है वह असत्य, एवं असम्भव दीखने वाली बात सर्वथा सत्य और सम्भवनीय हो जाती। अतः कौन आश्चर्य, यदि उपर्युक्त कल्पना भी सत्य हो ?

सृष्टि के निर्माण पर ज़रा विचार कीजिए। अपने आस-पास जो विविध सृष्टि हम देखते हैं—तरह-तरह के प्राणी और वनस्पति जो हमें दृष्टिगोचर होते हैं, वे सब कैसे अस्तित्व में आये ? यह एक मनोरंजक और आश्चर्यपूर्ण प्रश्न है। साधारणतया दो मत इस सम्बन्ध में पाये जाते हैं। एक तो यह कि परमेश्वर ने जब सृष्टि का निर्माण किया तो उसके साथ ही यह सब विविध रचना भी की; मतलब यह कि जितने

भी प्रकार के विविध प्राणी और वनस्पति आदि हमें आज दिखाई पड़ते हैं, सृष्टि-कर्त्ता ने उन सबका पृथक्-पृथक् एकसाथ निर्माण किया। इसके विपरीत दूसरा मत यह है कि आज हम जो अनेक प्रकार के विविध प्राणी और वनस्पति देखते हैं, सृष्टि के आरम्भ में, वे ऐसे नहीं थे। आरम्भ में उत्पन्न प्राणी एवं वनस्पति तो बिलकुल सरल-सादा थे। बाद में उनमें थोड़ा-थोड़ा परिवर्तन होना शुरू हुआ, जिससे कालान्तर में उनसे कुछ विभिन्न जातियाँ उत्पन्न हुईं। फिर तबसे अबतक बराबर यही क्रम जारी रहने के कारण, धीरे-धीरे, आज दीखने वाले समस्त विविध प्राणियों और वनस्पतियों का विकास हुआ। मतलब यह कि वर्तमान विविध सृष्टि एकदम निर्मित न होकर शुरू के कुछ सरल-सादा प्रकारों से बढ़ते-बढ़ते ऐसी ई है।

इनमें पहले मत को हम जल्दी ग्रहण करते हैं; क्योंकि उसमें न तो दिमाग़ लड़ाना पड़ता है, न वह अस्वाभाविक ही जँचता है। इसके विपरीत दूसरी कल्पना हमें बड़ी भोंडी, अस्वाभाविक अतएव त्याज्य प्रतीत होती है। परन्तु ज़रा गहराई से विचार करें तो हम चौंक पड़ते हैं। जितना-जितना सूक्ष्म विचार हम इसपर करें, उतनी ही पहली कल्पना की असत्यता एवं दूसरी की सचाई हमें प्रतीत होती जाती है।

भूमण्डल के अस्तित्व पर हम विचार करें तो हमें मालूम होगा, जैसा कि विज्ञानविद् लोग अपनी शोधों के फलस्वरूप बताते हैं, कि पहले तो हमारी यह पृथ्वी भी न थी, हमारा तो कहना ही क्या! पहले तो सत्व, तम और रज से युक्त कोई अव्यक्त एवं विशुद्ध मूलतत्त्व इस विश्व में प्रसृत था, जिसे हमारे यहाँ सांख्य ने 'प्रकृति' कहा है। इसके

बाद उसकी गति और उष्णता में क्रम-क्रम से कमी होते हुए, बाद में, उससे सर्व ग्रहों तथा हमारी इस पृथ्वी की भी उत्पत्ति हुई। उस वक्त तो इसपर रह ही कौन सकता था? परन्तु फिर क्रमशः पृथ्वी ठण्डी होने लगी; और उसी अनुसार इसपर क्रमशः वायु, जल आदि की उत्पत्ति हुई। फिर वनस्पति और प्राणियों का भी उदय और प्रसार हुआ। यहाँ तक कि आज की स्थिति को यह पहुँच गई है।

यह शङ्का हो सकती है कि हम मनुष्यों से पहले यदि सृष्टि में स्थित्यन्तर होते रहे, जैसा कि कहा गया है, तो भला हमें उनका पता कैसे लगा! उस समय उन्हें किसने तो लिपिबद्ध किया और कैसे वह हमारे समय तक के लिए सुरक्षित रक्खा गया? यह प्रश्न सचमुच विचारणीय है; और उस समय का कोई बाक़ायदा इतिहास या अन्य किसी प्रकार का लिखित वर्णन हमें नहीं मिलता, यह भी सत्य है। "परन्तु," बक़ौल हमारे राष्ट्रपति पं० जवाहरलाल नेहरू, "चाहे हमारे पास उस प्राचीन काल की लिखी हुई किताबें न हों, फिर भी सौभाग्यवश हमारे पास कई ऐसी चीज़ें हैं कि जो लगभग किताब ही की तरह इस संबंधी बहुत-सी बातें बताती हैं। पहाड़, चट्टानें, समुद्र, नदियाँ, तारागण, रेगिस्तान और प्राचीन प्राणियों के अवशेष (ठठरियाँ)—ये तथा इसी प्रकार की अन्य वस्तुएं पृथ्वी के आदि-वर्णन की हमारी किताबें हैं और इस (पृथ्वी की) कहानी को समझने का असली तरीक़ा यही नहीं है कि दूसरों की किताबों में इसका वर्णन पढ़ा जाय, बल्कि स्वयं महान् प्रकृति-पुस्तक को ही देखना चाहिए। × × सड़क पर या पहाड़ की तरफ़ पड़े हुए जिन छोटे-बड़े पत्थरों को हम देखते हैं, मानों वह प्रत्येक प्रकृति-पुस्तक

का एक पन्ना है—और, अगर हम उसे पढ़ सकें तो, वह हमें थोड़ी-बहुत बातें बता सकता है। एक छोटे गोल-चमकदार पत्थर के टुकड़े को ही देखें, तो क्या वह हमें कुछ नहीं बताता? बिना नोक-कोनों या किसी प्रकार की धार के वह गोल, चिकना और चमकदार कैसे हुआ? अगर किसी बड़ी चट्टान के छोटे-छोटे टुकड़े किये जायँ तो उनमें का प्रत्येक टुकड़ा खुरदरा, आड़ा-टेढ़ा और कोने-धार वाला होता है। गोल-चिकने पत्थर (Pebble) जैसा बिलकुल नहीं होता है। तब वह ऐसा गोल, चिकना और चमकदार कैसे बना? अगर आँख देखने और कान सुनने की सामर्थ्य रखते हों, देख-सुन सकें, तो वह हमें अपनी कहानी सुनाता है। वह कहता है कि एक समय—वह समय अत्यन्त प्राचीन क्यों न हो—वह एक चट्टान का ऐसा ही टुकड़ा था, जैसा कि बहुतसे नोक-कोनों वाला टुकड़ा किसी बड़ी चट्टान या पत्थर को तोड़ने पर निकलता है। सम्भवतः वह किसी पहाड़ के किनारे पड़ा रहा। वर्षाऋतु में वर्षा का पानी उसे पहाड़ की छोटी घाटी में बहाकर चश्मे तक ले गया, जहाँ से धक्का खाते-खाते वह एक छोटी नदी में जा पहुँचा। छोटी नदी उसे बड़ी नदी में लेगई। इस तमाम समय नदी की सतह में घिसटते-घिसटते उसके नोक-कोने खिर गये और उसका खुरदरापन मिटकर वह चिकना-चमकदार हो गया। इस प्रकार वह गोल-मटोल चिकना-चमकदार टुकड़ा बना, जिसे हम देखते हैं। किसी प्रकार नदी से वह अलग आ पड़ा और हमें वह मिल गया। अगर वह नदी से अलग न होता और उसके साथ-साथ बहता रहता तब तो वह और भी छोटे-से-छोटा होता जाता और अन्त में रेत का कण बनकर अपने अन्य भाइयों के साथ समुद्र-तट को

सुन्दर बनाता, जहाँ छोटे बच्चे रेत के महल बना-बनाकर खेल सकते हैं।"※

पं० जवाहरलाल का कहना है—"जब कि पत्थर का एक छोटा टुकड़ा इतनी बातें बता सकता है, तब पहाड़ और चट्टानें तथा दूसरी बहुत-सी चीज़ें जो हम अपने आस-पास देखते हैं, उनसे हम कितना ज़्यादा जान सकते हैं?" † विज्ञानवेत्ताओं ने सचमुच यह जानने की कोशिश की भी है। और आज सृष्टि की उत्पत्ति और विकास की जो बातें हमें उपलब्ध हैं, वे उन्हींके लगातार प्रयत्नों का परिणाम है। प्राच्य-प्राणि-शास्त्र और प्राच्य-वनस्पति-शास्त्र, विज्ञान के इन दो विभागों का काम ही पुराने-से-पुराने प्राणियों और वनस्पतियों के अवशेषों को ढूँढ कर उनपर से उस-उस समय की स्थिति का पता लगाना है।

इसी शोध के फल-स्वरूप वैज्ञानिकों का कहना है, मनुष्य जिन्हें आज हम देखते हैं सृष्टि के आरम्भ से ही ऐसे-के-ऐसे नहीं चले आ रहे हैं। आरम्भ में तो वातावरण ही ऐसा था कि मनुष्य ही नहीं, पशु-पक्षी, जीव-जन्तु भी यहाँ न रह सकते थे। जड़ से सृष्टि का आरम्भ हुआ।

※ Letters from a Father to his daughter; pp. 3-4. पं० जवाहरलाल नेहरू इस विषय के मर्मज्ञ हैं, यह शायद बहुतों को मालूम न होगा। कइयों को यह जानकर शायद अचरज भी हो कि वास्तव में प्रकृति-विज्ञान के विषयों में ही उन्होंने इंग्लैण्ड में एम० ए० पास किया था। उनकी हाल ही प्रकाशित हुई इस पुस्तक ने इस रहस्य का उद्घाटन कर दिया है।]

† वही; पृ० ४।

फिर जैसे-जैसे वातावरण बदलता गया—अर्थात् पृथ्वी में ताप घटकर ठण्डक होती गई, उसके अनुसार जीव-सृष्टि भी निर्मित और विकसित हुई। "सबसे पहला पौधा प्रोटोकोकस माना जाता है, जिससे बाद को पुच्छ-वृक्ष, छत्र-वृक्ष, बहुपत्रक फ़र्न, और अन्त में फल-फूल वाले पौधों का जन्म हुआ। यह तो पौधों के विकास का क्रम है। पशुओं में सबसे पहले बिना रीढ़ की हड्डी और बिना खोपड़ी वाले जलचरों में सम्भवतः बहुत छोटी आरम्भिक मछलियों का जन्म हुआ।...इसके पश्चात् रीढ़ की हड्डी वाले और खोपड़ी वाले जीवों की उत्पत्ति हुई। तत्पश्चात् जिस युग में वनस्पति-जगत के फ़र्न वृक्ष पृथ्वी के अधिकांश भाग को ढके हुए थे, उस समय मछलियों की उत्पत्ति हुई। छत्राकार वृक्षों के समय उरग या सरीसृप अर्थात् साँप के समान पेट से चलने वालों (Reptiles) का जन्म हुआ। फल-फूल वाले वृक्ष जब पैदा हुए तब दूध पिलाने वाले पशुओं का अवतार हुआ और सबसे अन्त में मनुष्य का अवतार हुआ।"* संक्षेप में कहें तो, जीव-सृष्टि का आरम्भ शंखोत्पादक प्राणियों से हुआ, फिर सरीसृप, मत्स्य, सस्तन और उन सस्तन प्राणियों के विविध प्रकारों में से मनुष्यनुमा बन्दर होकर उनसे हम मनुष्यों का अवतरण हुआ है। यही विकासवाद है—और, इसके अनुसार, मनुष्य अबतक होने वाली सृष्टि की अन्तिम और सर्वोत्तम कृति है।

प्राणी और उसके आस-पास की परिस्थिति (The Organism and its environment), ये दो विकास के मुद्दे हैं।† जब-जब

---

* 'विज्ञान' (दिसम्बर १९२९); पशुओं का अवतार, पृ० ११२।

† New Age Cyclopaedia (Vol. IV); P. 299.

कोई परिवर्तन होता है तब-तब एक नई परिस्थिति उत्पन्न होकर उसमें टिक सकने की समस्या उत्पन्न होती है—शास्त्रीय भाषा में कहें तो, जीवन के लिए संघर्ष या कलह उत्पन्न हो जाता है। ऐसी हालत में यह आवश्यक है कि उस परिवर्त्तित स्थिति के अनुसार बना जाय, नहीं तो अस्तित्व असम्भव है। यही कारण है कि परिस्थिति में जैसे-जैसे परिवर्त्तन होता जाता है, उसीके अनुसार प्राणियों की शरीर-रचना भी बदलती जाती है— और फिर, आनुवंशिक संस्कारों के अनुसार, भावी पीढ़ियों में वह फ़र्क़ लगातार बढ़ते हुए अन्त में उन प्राणियों के सारे रंग-रूप ही बदल जाते हैं। यही विकासवाद की मूल कल्पना है। इसीको प्राकृतिक और वैषयिक चुनाव में विभक्त किया गया है, जिससे कि इस परिवर्त्तन को समझने में सहूलियत होती है।

आधुनिक रूप में इसका प्रतिपादन पश्चिम से हुआ है; और जिन्होंने इसकी शोध की है, उनमें चार्ल्स डार्विन सबसे प्रमुख है। मूल कल्पना तो उससे पहले ही उठ चुकी थी, परन्तु उसे सुलझा हुआ और व्यवस्थित रूप उसीने दिया। उसने तथा अन्य विकासवादी विज्ञानवेत्ताओं ने विविध शोधों और प्रमाणों द्वारा विकास का चित्रपट तैयार करके यह सिद्ध कर दिया है कि मनुष्य ही जीव-सृष्टि की अन्तिम रचना है और उसका विकास बन्दरों से हुआ है। यहाँ पशुओं और मनुष्यों के फ़र्क़ का जो प्रश्न उठता है, शास्त्रज्ञों ने, विविध उदाहरणों द्वारा, उसका भी समाधान किया है। बुद्धिमत्ता और वाणी, ये दो ऐसी चीज़ें हैं कि जिनपर हम मनुष्यों को गर्व है और हम पशुओं के वंशज होने का विरोध करते हैं; पर विज्ञानवेत्ताओं ने दोनों की इस विषयक तुलना करके

हमारे इस गर्व को भ्रमात्मक सिद्ध कर दिया है। उन्होंने सिद्ध किया है कि पशुओं में भी हमारी तरह मन व बुद्धि है, उनकी अपनी वाणी भी है, यह दूसरी बात है कि उनमें ये चीज़ें हमारे जितनी विकसित नहीं हैं—हमसे घटकर हैं। परन्तु किसी गुण का कम-ज़्यादा विकास तो हम मनुष्यों में परस्पर भी तो होता है—बालक और बड़े की वाणी-बुद्धि में, ऐसे ही जंगली और सभ्य मनुष्यों में भी, इन सब विषयों में काफ़ी अन्तर रहता है।

जीवन-विकास की इन्हीं सब बातों का प्रस्तुत पुस्तक में वर्णन है। पुस्तक के लेखक प्रोफ़ेसर सदाशिव नारायण दातार (एम० ए०, बी० एस-सी०) इस विषय के विद्वान हैं, अतएव उनका वर्णन सिलसिलेवार के साथ ही सरल और रोचक है। जहाँ अंग्रेज़ी में इस विषय की अनेक छोटी-बड़ी पुस्तकें हैं, वहाँ देशी भाषाओं में उनका अभाव है। यह एक खटकने वाली बात है। इसी भावना से प्रेरित होकर, इस विषयक कई अंग्रेज़ी पुस्तकों के आधार पर, आपने मराठी में इसे लिखा। जो लाभ इससे मराठी-भाषियों को हुआ, हिन्दी-भाषी भी उससे वञ्चित न रहें, इस ख़याल से बड़ी उदारता से आपने उसके हिन्दी-अनुवाद की आज्ञा दी है। उसीके अनुसार यह हिन्दी-रूप मौजूद है।

एक बात ध्यान रखने की है। विकासवाद का जबसे उदय हुआ है, यह विवाद का प्रश्न रहा है। अपने पूर्वग्रहों के कारण मनुष्य इस बात को सुनते ही चिढ़ उठते हैं कि हम बन्दरों की औलाद हैं, इसलिए उचित-अनुचित युक्तियों से वे इसका विरोध करते ही रहते हैं। साथ ही इसके समर्थक भी अपने जोश और ख़िलाफ़त में कभी-कभी सीमा से

बढ़कर इसका प्रतिपादन करने लगते हैं। यही कारण है कि दोनों के बीच की खाई मिट नहीं पाती। प्रस्तुत पुस्तक में इन बातों से ऊपर उठने का प्रयत्न किया गया है। विवादास्पद बातों को जहाँ तक हुआ छोड़ कर केवल ऐसी ही बातों पर विचार किया गया है कि जो सामान्यत; सबको मान्य हो सकती हैं। साथ ही, जहाँ ज़रूरत हुई, विकासवादियों पर टीका भी की गई है। आम तौर पर यह जो समझा जाने लगा है कि विकासवाद का मतलब लगातार प्रगति होते रहना ही है, इसे भ्रमात्मक सिद्ध किया गया है। यह ज़रूर है कि सृष्टि-विकास के उदाहरण में हमें अभी तक प्रगति ही हुई दिखाई पड़ती है, पर यह ज़रूरी नहीं कि हमेशा प्रगति ही होती रहे। लेखक का मत है, "विकास के साथ प्रगति ही होनी चाहिए,यह कल्पना ग़लत है। विकास के साथ जैसे प्रगति होना सम्भव है, वैसे ही अवनति भी हो सकती है।" क्योंकि, असल में तो यह परिस्थिति पर निर्भर है; परिस्थिति अच्छी हो तो प्रगति होगी, और अच्छी न होगी तो अवनति होगी। इस स्पष्टीकरण से, आशा है, बहुतों का समाधान हो जायगा और वे इस सम्बन्धी अपनी ज़िद पर अड़ने के बजाय अपनी सारासार-बुद्धि से इसपर विचार करेंगे।

अजमेर,
श्री वसन्तपञ्चमी, १९८६।

मुकुटबिहारी वर्मा

?

चित्र-सूची

जीवन-विकास

उन्नीसवीं शताब्दी के बौद्धिक एवं वैज्ञानिक वातावरण में यूरोप के अन्दर जो अनेक उलट-फेर हुए, उनमें विकासवाद का प्रमुख स्थान है; और इसका कारण है विकासवाद की अत्यन्त व्यापकता। विकास की कल्पना यद्यपि प्रधानतः प्राणि-शास्त्री, वनस्पति-शास्त्री एवं भूगर्भ-शास्त्रियों से निकली है और प्राणि-शास्त्र, वनस्पति-शास्त्र एवं भूगर्भ-शास्त्र के द्वारा ही उन्होंने इसे सिद्ध किया है, तथापि यह तत्त्व इतने व्यापक स्वरूप का है कि अनेक दूसरे शास्त्रों पर भी इसका थोड़ा-बहुत असर हुए बिना न रहा। × × यह कहने में भी कोई आपत्ति नहीं कि आधुनिक समाजशास्त्र की सारी इमारत ही विकासवाद पर स्थापित है। × ×

× × × इस सिद्धान्त के कारण हमारे सम्बन्ध की मानव-जाति की कल्पना बिलकुल बदल गई है। विकासवाद ने सृष्टि के प्रति मनुष्य के दृष्टिकोण को बिलकुल बदल दिया है। × ×

× × × मनुष्यों की आँखों में अहंकार और पूर्वग्रह का जो रोग छाया हुआ था, विकासवाद ने उसे नामशेष कर दिया; उनकी आँखों का पर्दा हट जाने से उन्हें सारी सृष्टि अपने यथार्थ स्वरूप में दीखने लग गई—और, इस प्रकार, सत्यान्वेषण का मार्ग खुल गया।
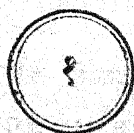
विकासवाद

अपने चारों तरफ़ अगर हम नज़र डालें, तो सृष्टि में तरह-तरह के पदार्थ हमें दिखाई देंगे। भिन्न-भिन्न शास्त्रवेत्ताओं ने उन सभी पदार्थों का, अपने-अपने शास्त्रों की सुविधा के अनुसार, भिन्न-भिन्न रीति से वर्गीकरण किया है। उदाहरण के लिए, पदार्थविज्ञान-शास्त्र में इन सब पदार्थों की स्थिति का विचार करके घनरूप, द्रवरूप और वायुरूप नाम से इनका वर्गीकरण किया गया है। रसायन-शास्त्र में इन्हीं पदार्थों का वर्गीकरण सेन्द्रिय और निरिन्द्रिय के रूप में हुआ है। इसी प्रकार हम भी अपने विषय के अनुरूप ही इन पदार्थों का वर्गीकरण

करेंगे। अर्थात्, आरम्भ में, इन सब पदार्थों को हम दो भागों में विभक्त करेंगे—एक जीव और दूसरा निर्जीव।

इस वर्गीकरण में, एक बात पर हमें ध्यान रखना होगा। वह यह कि जीव शब्द का व्यवहार यहाँ जरा व्यापक रूप में किया गया है, जब कि निर्जीव शब्द का कुछ संकुचित अर्थ में किया गया है। मामूली तौर पर जीव शब्द से केवल प्राणियों (जीवधारियों) का बोध होता है, वनस्पतियों का नहीं; परन्तु यहाँ जीव शब्द के अन्दर प्राणी और वनस्पति दोनों का समावेश किया गया है। क्योंकि डा० जगदीशचन्द्र वसु की खोजों से अब यह एक प्रकार से सिद्ध ही हो चुका है कि प्राणियों के समान ही वनस्पतियों में भी न केवल हलचल, श्वासोच्छ्वास आदि क्रियायें ही होती हैं; बल्कि वे प्राणियों की भाँति संवेदना (सुख, दुःख आदि) का भी अनुभव करते हैं। ऐसी दशा में, जैसा कि ऊपर कहा गया है, जीव शब्द का व्यापक अर्थ में उपयोग करना किसी प्रकार अनुचित या आपत्ति-जनक नहीं है। अस्तु।

इस प्रकार सब पदार्थों के दो भाग कर देने पर, अब हम पहले उनमें से जीव-सृष्टि पर विचार करेंगे। जीव-सृष्टि को भी, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, हमें प्राणी और वनस्पति इन दो मुख्य भागों में बाँटना होगा। इनमें भी वनस्पतियों पर विचार करने बैठें तो अनेक वनस्पतियाँ ऐसी मिलेंगी, जो एक-दूसरे से

चित्र नं० १
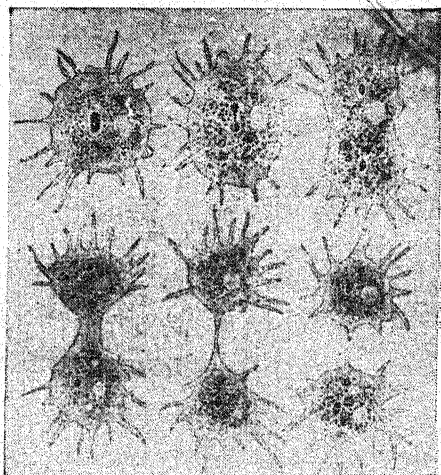
अमीबा और उसका विभाजन

चित्र नं० २
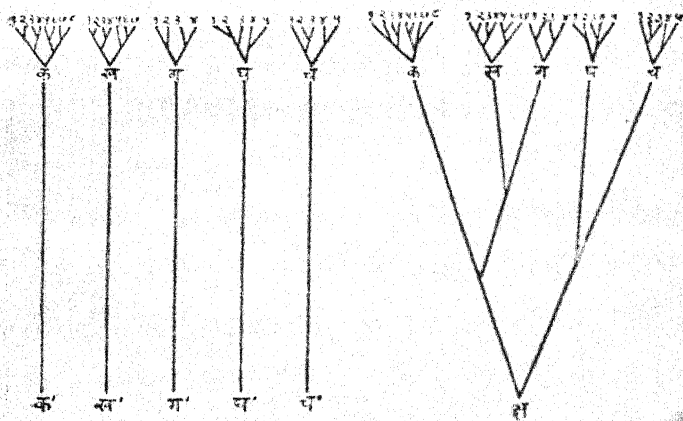
बिलकुल ही भिन्न हैं। एक ओर पानी पर जमने वाली काई जैसी अनेक वनस्पतियाँ ऐसी दिखाई पड़ेंगी, जो अत्यन्त क्षुद्र और साधारणतः निरुपयोगी हैं; दूसरी ओर बड़, पीपल, सागौन, चीढ़ जैसे बड़े-बड़े और मनुष्योपयोगी अनेक वृक्ष भी हमें मिलते हैं। वनस्पति ही क्यों, प्राणियों में तो यह विरोध और भी बृहद् परिमाण में दिखाई पड़ता है। प्राणियों में कुछ जीव-जन्तु तो इतने ज़रा-से होते हैं कि सूक्ष्म-दर्शक यंत्र की मदद के बिना सिर्फ़ आँखों से तो वे दिखाई ही नहीं पड़ते। धारण-पोषण की उनकी क्रिया बड़ी सादी है; और हाथ, पैर, पेट आदि जो अवयव साधारणतया प्राणियों में होते हैं उनका इनमें चिह्न तक दृष्टिगोचर नहीं होता। चित्र नं० १ में प्रदर्शित प्राणी इसी प्रकार का है। यह प्राणी कीचड़ या पानी के गड्ढे में पाया जाता है। इसका शरीर सिर्फ़ एक, और वह भी अत्यन्त सूक्ष्म, कोश का बना होता है। मगर सूक्ष्म-दर्शक यंत्र लगाकर थोड़ी देर तक गौर से अगर हम इसे देखें, तो हमें पता लगेगा कि अन्य प्राणी जिस प्रकार खाने, पीने, सन्तानोत्पत्ति आदि की क्रियायें करते हैं वैसे ही यह भी अपने सब व्यवहार कर सकता है। इसके शरीर के चारों तरफ़ हाथों की अंगुलियों की नाईं जो भाग आगे को निकले हुए दीखते हैं, थोड़ी देर के लिए उन्हें हम इसके पैर समझ लें तो, वे पैर तो बराबर हिलते ही रहते हैं। इसके खाने-

तरह-तरह के इन प्राणियों और एक-दूसरे से बिलकुल विभिन्न दीखने वाले असंख्य वनस्पतियों पर यदि हम किञ्चित दृष्टिपात करें, तो सहज ही हमारे मन में यह प्रश्न उठता है—"तरह-तरह के ये सब जीव भला कैसे उत्पन्न हुए होंगे ?" प्रस्तुत पुस्तक में इसीपर विचार किया जायगा।

जीव-सृष्टि की उत्पत्ति पर विचार करते समय, वैसे तो, उसके साथ ही निर्जीव सृष्टि की उत्पत्ति का भी वास्तविक विचार करना अवश्यक है; परन्तु विस्तार-भय से अभी हम इस प्रश्न को स्थगित ही रक्खेंगे। इसी प्रकार, जीव-सृष्टि की उत्पत्ति पर विचार करते समय, प्रारम्भ में इस बात पर भी विचार करना आवश्यक है कि निर्जीव या जड़ से जीव या चेतन की सृष्टि कैसे हुई ? यह प्रश्न अत्यन्त विवादास्पद परन्तु साथ ही मनोरञ्जक भी है। मगर फ़िलहाल तो इसपर भी हम विचार नहीं कर सकते। जिस किसी भी तरह हो, हम तो अभी इन बातों को गृहीत ही मान लेते हैं कि सृष्टि में पहले निर्जीव या जड़ की उत्पत्ति हुई और फिर उस-से जीव की हुई। इन दोनों बातों को गृहीत मानकर यहाँ हमें जिस बात पर विचार करना है वह तो खास तौर पर यही है कि इसके बाद विविध वनस्पतियों और प्राणियों के द्वारा जीव ने जो अनन्त रूप धारण किये वे उसे कैसे प्राप्त हुए ? जीव-सृष्टि का जो अपार विस्तार आज हमें दिखाई पड़ रहा है वह कैसे हुआ ?

अथवा इस भूतल पर असंख्य वनस्पति और प्राणियों का जो सुहद् जाल-सा फैला हुआ हमें दिखाई पड़ता है उसके भिन्न-भिन्न तागे कैसे बने होंगे ?

इस प्रश्न पर ज़रा ध्यान के साथ विचार करें, तो सामान्य मनुष्य को इसके दो ही उत्तर सूझ सकते हैं। एक तो यह कि जीव-सृष्टि को आज हम जिस रूप में देख रहे हैं जगत् के आरम्भ में भी यह ठीक इसी प्रकार की थी और आरम्भ से लेकर आज-पर्यन्त वह ज्यों की त्यों ही चली आ रही है। आम या गुलाब के जो दरख्त आज हम देखते हैं, उनका मूल भी ऐसा ही था; अर्थात्, आरम्भ ही से वे ऐसे के ऐसे ही चले आ रहे हैं। कुत्तों के जो विविध प्रकार आज हमें दीखते हैं, सृष्टि के आदि में भी वे इसी प्रकार थे। अर्थात्, आज जो 'बुलडाग' हम देखते हैं उसके पूर्वजों को भी अनादिकाल में परमेश्वर ने मानों ठीक ऐसा का ऐसा घड़ा था। आज हमें जो 'ग्रेहाउण्ड' दीखते हैं उनके आदि-पुरुष भी मानों इसी प्रकार के थे। मतलब यह कि आज हमें तरह-तरह के जो वनस्पति एवं प्राणी दृष्टिगोचर होते हैं, इस उपपत्ति के अनुसार, सृष्टि के आरम्भ में ही वे ठीक ऐसे-ही निर्मित हुए थे और वर्तमान जीव-सृष्टि मानों उनका विस्तार-मात्र है। यह तो एक विचार-शैली हुई। पर इसके विपरीत भी एक विचार-शैली है। वह यह कि आज हम जो प्राणी और वनस्पति

देखते हैं पहले, अर्थात् अत्यन्त प्राचीन—आदि—काल में, वे आज जैसे बिलकुल न थे। सृष्टि के आरम्भकाल में उत्पन्न प्राणी और वनस्पति तो बिलकुल सरल-सादा थे; आज उनमें जो विविधता आ गई है, उसका तो उस समय उनमें लेश-मात्र न था। बाद में धीरे-धीरे वनस्पति और प्राणियों में थोड़ा-बहुत फेर-बदल होने लगा, जिससे कालान्तर में कुछ विभिन्न ही प्राणी एवं वनस्पति उत्पन्न हुए। और पूर्वकाल से आज-पर्यन्त अनेक वर्षों से यही क्रम ज्यों का त्यों जारी रहने के कारण ही प्रारम्भ के अत्यन्त सादा व थोड़े-से वनस्पति एवं प्राणियों से ही आज दीखने वाले सब विविध प्राणियों और वनस्पतियों का विकास हुआ है।

जीव-सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यही दो परस्पर विरोधी उपपत्तियाँ उपलब्ध हैं; इनके अतिरिक्त, और कोई उपपत्ति हमारे देखने में नहीं आई। इनके अनुसार, एक दृष्टि से तो, यह कहना चाहिए कि इस जीव-सृष्टि में आरम्भ से लेकर आज-पर्यन्त कोई एक भी फेर-बदल या परिवर्तन नहीं हुआ। प्राणी और वनस्पतियों के जितने प्रकार आज हम देखते हैं उनका प्रत्येक का सृष्टि के आरम्भ में ईश्वर ने स्वतंत्र रूप से ही निर्माण किया था और आज तक वही सब प्रकार (जातियाँ या क़िस्में) ठीक उसी रूप में चले आ रहे हैं। इसके विपरीत, दूसरी दृष्टि से हम यह कहेंगे कि सृष्टि में लगातार परिवर्तन होता चला आ रहा

है। आज हमें जो विविध प्राणी एवं वनस्पति दृष्टिगोचर होते हैं, सृष्टि की उत्पत्ति के समय, अर्थात् अत्यन्त प्राचीन—अनादि—काल में, उनके पूर्वज भी ठीक ऐसे ही नहीं थे। उस समय पैदा होने वाले जीव-जन्तु तो अत्यन्त सादा और सूक्ष्म थे। बाद में, ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, धीरे-धीरे उनमें कुछ-कुछ भिन्नता होती गई। कालान्तर में, इससे, उनमें से कुछ निराले ही और ऊँचे दर्जे के प्राणियों का आविर्भाव हुआ; और, यही क्रम आज भी ऐसा ही चला आने के कारण, आज की यह अपार जीव-सृष्टि भी उन्हींसे उत्पन्न हुई है। मतलब यह कि जो जीव-सृष्टि आज हमें दिखाई पड़ती है, इस उपपत्ति के अनुसार, उसका निर्माण आरम्भ में निश्चित कुछ थोड़े से प्राणियों और वनस्पतियों से ही हुआ था। परन्तु उसके बाद उन अल्पसंख्यक जीवों का उसी प्रकार पीढ़ी-दर-पीढ़ी विकास होता गया, जैसे कि किसी बीज से बढ़ते-बढ़ते कालान्तर में प्रचण्ड वृक्ष खड़ा हो जाता है; और उसीके फल-स्वरूप, उस विकास के लगातार होते रहने से, आज की इस अपार जीव-सृष्टि के रूप में उनका विस्तार हो गया। इस दूसरे प्रकार की उपपत्ति का ही नाम 'विकासवाद' है। 'विकास' शब्द संस्कृत-भाषा का है; और इसका अर्थ है—प्रसार, फैलाव...क्रमशः उन्नत होना।❀ अंग्रेजी के 'इवॉल्यूशन' (Evolution)

❀ हिन्दी-शब्दसागर; पृष्ठ ३१३४।

शब्द के अर्थ में यह प्रयुक्त है, जिसका धात्वर्थ है—किसी लिपटी या उलझी हुई वस्तु को खोलना या सुलझाना। इस प्रकार, इस-पर से, इस शब्द का अर्थ हुआ—किसी पदार्थ का एक स्थिति से निकल कर उससे अपेक्षाकृत अधिक प्रसृत किंवा अधिक प्रशस्त अन्य स्थिति में प्रवेश करना। इसी प्रकार जिस क्रिया के द्वारा पदार्थ-मात्र एक स्थिति से क्रम-पूर्वक बढ़ते हुए अपेक्षाकृत विस्तृत स्थिति में प्रवेश करते हैं, उसका नाम है विकास; और किसी प्राणी का विकास होना मानों उस प्राणी की जाति में क्रमशः परिवर्तन होते हुए कालान्तर में उससे भिन्न प्रकार की एक नई ही क़िस्म या जाति का उत्पन्न होना है।

जिन दो उपपत्तियों का ऊपर वर्णन किया गया है, सरसरी नज़र डालने पर, उनमें से पहली ही ठीक मालूम होगी, जब कि दूसरी सम्भवतः केवल अशक्य और इसलिए त्याज्य प्रतीत होगी। क्योंकि, अपने जीवन-काल में, दूसरी उपपत्ति के अनुसार होनेवाला अन्तर हम कहीं नहीं देख पाते। विकासवाद के सिद्धान्तानुसार तो किसी एक प्राणी से क्रम-पूर्वक न केवल अन्य प्राणियों की उत्पत्ति ही सम्भव है; बल्कि इस समस्त जीव-सृष्टि की उत्पत्ति भी इसी क्रम के अनुसार हुई है। परन्तु हम तो अपने जीवन में बिल्ली से कुत्ते, अथवा कनेर के पेड़ से गुलाब के दरख़्त, पैदा होते नहीं देखते; उलटे हमें तो प्रत्यक्ष यही दिखाई पड़ता है कि

कई पीढ़ियाँ गुजर जाने पर भी कुत्तों से कुत्ते ही पैदा होते हैं और कनेर के पेड़ में कनेर ही के फूल लगते हैं। यही कारण है कि विकास के सिद्धान्त के बारे में, शुरू में, हमें शङ्का ही होती है।

लेकिन अगर हमारे जीवन में कोई बात होती हुई हमें नहीं दिखाई पड़ती तो इसका मतलब यह नहीं कि वह कभी हो ही नहीं सकती। कल्पना कीजिए कि भरपूर वसन्त-ऋतु में, जब कि चारों ओर फूल ही फूल दृष्टिगोचर होते हैं, एक भौंरा पैदा होता है। और वसन्त के समाप्त होने से पहले ही उसका अल्पकालिक जीवन समाप्त हो जाता है। इस प्रकार जबतक वह जीवित रहा उसके सब दिन किसी रम्य उपवन में एक पुष्प से दूसरे पुष्प पर उड़ते हुए ही बीते। ऐसी दशा में पृथ्वी का पृष्ठभाग उसके लिए तो मानों एक सुन्दर-सुगन्धित पुष्पोद्यान ही रहा। अतएव उसकी सहज कल्पना यही होगी कि इस पृथ्वीतल पर सदा-सर्वदा वसन्त-ऋतु ही छाई रहती है! परन्तु उसकी ऐसी कल्पना कितनी संकुचित एवं अदूरदर्शिता पूर्ण है, यह कौन नहीं जानता? इसी प्रकार हमारी उक्त विचार-शैली भी न केवल इतनी ही प्रत्युत् इससे भी अधिक संकुचित न होगी, ऐसा कौन कह सकता है? क्योंकि, शोधकों के मतानुसार, सृष्टि पर जीवोत्पत्ति हुए न्यूनातिन्यून ३-४ करोड़ वर्ष तो हो ही चुके हैं। तब, इस विस्तृत काल

के दर्म्यान क्या-क्या पदार्थ बने, इसका अनुमान केवल एकाध डुबकी लगाकर ही कैसे लगाया जा सकता है ?

सारांश यह कि जीव-सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो दो उपपत्तियाँ दी गई हैं उनके सम्बन्ध में सहसा यह नहीं कहा जा सकता कि उनमें से एक शक्य और दूसरी अशक्य अतएव त्याज्य है। क्योंकि, जैसा कि उपर्युक्त विवेचन से पाठक समझ गये होंगे, दोनों उपपत्तियाँ एक समान ही शक्य हैं।

इस सम्बन्ध के ऐतिहासिक वर्णन को देखें तो मालूम होगा कि जीव-सृष्टि की उत्पत्ति-सम्बन्धी इन दोनों उपपत्तियों के संबंध में न केवल आज से बल्कि बहुत प्राचीन काल से ऐसी ही अस्पष्ट कल्पना सर्व-साधारण में चली आ रही है। ईस्वी सन् से ६०० वर्ष-पूर्व जो ग्रीक पण्डित हो गये हैं उनके ग्रन्थ में पहली आपत्ति-संबंधी विचार तो मिलते ही हैं; परन्तु आश्चर्य की बात यह है कि दूसरे अर्थात् साधारणतः अर्वाचीन माने जाने वाले इस विकास-वाद के बारे में भी उनके उस ग्रन्थ में थोड़ी-बहुत कल्पना मिलती ही है। इस ग्रीक ग्रन्थकार के ग्रन्थ में विकासवाद के कौन-कौन प्रमेय कहाँ-कहाँ वर्णित हैं, इसका विस्तृत वर्णन करना तो यहाँ ज़रा मुश्किल है; संक्षेप में सिर्फ यही कहना पर्याप्त होगा कि "जीव की सृष्टि जड़ से हुई, वनस्पतियों की उत्पत्ति प्राणियों से पहले हुई। प्राणियों में भी पहले नीचे दर्जे के प्राणी हुए, फिर

ऊँचे दर्जे के, और उन सबके अन्त में इस भूतल पर मनुष्यों का अवतरण हुआ"* इत्यादि विकासवाद से मिलती-जुलती जो कल्पनायें कितने ही लोगों के ग्रन्थों में गृहीत हैं वे सब उनके उस ग्रन्थ ही से ली गई हैं।

परन्तु इससे भी अधिक नई और आश्चर्यपूर्ण बात तो यह है कि हमारे प्राचीन धर्मग्रन्थों में भी विकासवाद के समर्थक विचार मिलते बताये जाते हैं, जैसा कि लोकमान्य तिलक-कृत 'गीता-रहस्य' से गृहीत निम्न उद्धरण से प्रकट होगा—"विश्वोत्पत्ति के सम्बन्ध में विवेचन होकर सांख्यशास्त्र में जो सिद्धान्त निर्धारित किये गये हैं उनमें से अनेक आधुनिक विकासवाद के सिद्धान्तों से मेल खाते हैं। सांख्य के मतानुसार आरम्भ में सत्त्व, रज, तम, इन तीन गुणों से युक्त कोई अव्यक्त एवं विशुद्ध मूलतत्त्व इस विश्व में अखण्ड रूप से प्रसृत था, जिसे वह 'प्रकृति' कहता है। बाद में सत्त्व, रज, तम की साम्यावस्था में पड़ी हुई उस प्रकृति की तह उसी प्रकार धीरे-धीरे खुलने लगी, जैसे कि एकबार किसी चीज की तह खुल जाने पर वह धीरे-धीरे खुलती ही जाती है। अर्थात जितनी भी व्यक्त सृष्टि है वह सब क्रम-पूर्वक निर्माण होती है। इस प्रकार सांख्य के इस कथन

* 'पायनीयर्स ऑफ इवॉल्यूशन' (Pioneers of Evolution—by Edward Clodd) से।

में और (आधुनिक) विकासवाद में वस्तुतः कोई विशेष अन्तर नहीं रह जाता। क्योंकि, विकासवाद के अनुसार भी तो इस विश्व में आरम्भ में कुछ-न-कुछ विशुद्ध-से तप्त पदार्थ ही चारों ओर भरे पड़े थे, जिनकी गति और उष्णता में क्रम-क्रम से कमी होते हुए बाद में उनमें से सर्वग्रहों तथा हमारी इस पृथ्वी की भी उत्पत्ति हुई। इसी प्रकार फिर जैसे-जैसे यह पृथ्वी ठण्डी होने लगी, वैसे-वैसे, इसपर वायु, जल आदि की उत्पत्ति हुई; और, उसके बाद, क्रमपूर्वक वनस्पति एवं प्राणियों की बहुतायत होती गई।" इसमें ध्यान रखने की जो बात है वह सिर्फ यही कि आधुनिक विकासवादियों और प्राचीन सांख्य की कल्पनाओं में समता तो है; परन्तु आधुनिक कल्पना का मूल जहाँ प्रयोग-सिद्ध है, अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाणों पर उसकी रचना हुई है, तहाँ प्राचीन कल्पना केवल अनुमानभूत है।

अब अगर यह कहा जाय कि इन दोनों उपपत्तियों सम्बन्धी यह अस्पष्ट कल्पना अत्यन्त प्राचीनकाल से ही मिलती है तो भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि बहुत समय, अर्थात् उन्नीसवीं शताब्दी, तक तो इनमें से पहली उपपत्ति ही सर्वमान्य थी; दूसरी उपपत्ति तो पूरे तौर पर अभी हाल में, अर्थात् उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ही, सामने आई है और बाद में अनेक वर्षों तक प्रथम विचार-शैली से मुक़ाबला करते रहकर इसने उसकी जगह

प्राप्त की है। अब प्रश्न यह होता है कि जीव-सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में पहली ही कल्पना शतकानुशतक क्यों प्रचलित रही ? बहुत सम्भवतः इस सम्बन्ध में ' बाइबल ' में लिखित और इसलिए ईसाई-धर्म के लिए आधारभूत वर्णन अथवा वचनों से इसका मेल खाना ही इसका कारण है। 'बाइबल ' में लिखा है कि " सृष्टि के आरम्भ में प्रत्येक प्राणी को ईश्वर ने स्वतंत्र रूप से रचा था;" और विकासवादियों का कथन इससे बिलकुल उलटा है। इसीलिए पोप और उनके अत्याचारी अनुयायियों के सामने बहुत समय तक विकासवादी आगे न आ सके, तो इसमें आश्चर्य क्या ? परन्तु इसके बाद वैज्ञानिक सत्य के जोर पर धीरे-धीरे इस स्थिति का परिवर्तन होना शुरू हो गया। बहुतों को पहली उपपत्ति के विषय में शङ्का उत्पन्न हुई। उन्हें भासित होने लगा कि, जो कुछ हमें प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है, यह उपपत्ति तो उससे सर्वथा विपरीत है। तब उन्होंने दूसरी उपपत्ति पर ध्यान दिया और विकासवाद की शोध जारी हो गई। जिन्होंने इस ओर क़दम बढ़ाया उनमें बफ़न, लेमार्क, स्पेन्सर और डार्विन मुख्य हैं। यह कहा जाय तो भी कुछ हर्ज नहीं कि थोड़े-बहुत परिमाण में यही सब विकासवाद के आधार-स्तम्भ या जनक माने जाते हैं। इनमें अनेक शास्त्रीय (वैज्ञानिक) शोधों के द्वारा विकासवाद को प्रमाणित करने वाला लेमार्क है। विकास

की मूलभूत कल्पना—अर्थात् एक जाति या क़िस्म से धीरे-धीरे (क्रमपूर्वक) अनेक जातियाँ कैसे उत्पन्न हो सकती हैं, यह बात—उसने साबित कर दी। उसका कहना है कि किसी भी प्राणी को लें तो हम देखेंगे कि उसकी सभी सन्तानें कभी भी बिलकुल एकसी या हूबहू नहीं होतीं। उदाहरणार्थ, किसी बिल्ली के सब बच्चे हूबहू वैसे-के-वैसे नहीं होते—प्रत्येक में थोड़ा-बहुत अन्तर रहता ही है। इसके अतिरिक्त, प्रत्येक व्यक्ति की वृद्धि उसके व्यवसाय पर अवलम्बित रहती है। जिन्हें ज़्यादा चलना पड़ता है उनके पैर सख़्त और मज़बूत होते हैं। ठोक-पीट करते-करते लुहार के हाथ कितने सख़्त हो जाते हैं, यह हम सब जानते हैं। मतलब यह कि एक ही माता-पिता के भिन्न-भिन्न बालकों में भी पैदायश के समय थोड़ा-बहुत अन्तर तो रहता ही है; पश्चात्, व्यवसाय-भेद से, उसमें और वृद्धि ही होती जाती है। फिर यह भी सभी जानते हैं कि एक ही माता-पिता के सब बालक यदि बिलकुल एकसे न हों तो भी थोड़े-बहुत परिमाण में तो उनमें अपने माता-पिता के गुण-अवगुण रहते ही हैं। ऊपर जिन विविध व्यक्तियों का उल्लेख किया गया है उनकी सन्तति भी इसी प्रकार उनके समान, अर्थात् उस-उस गुण-अवगुण से युक्त, होगी ही। और फिर जब वंशानुवंश यही क्रम जारी रहा तो, जैसा कि ऊपर बताया गया है, व्यक्ति-व्यक्ति का यह अन्तर क्रमपूर्वक

अधिकाधिक बढ़ते हुए अन्त में इतना विशाल हो जायगा, कि हम यह कल्पना भी न कर सकेंगे कि इन सब विविध व्यक्तियों की उत्पत्ति किसी एक ही पूर्वज से हुई होगी। इसी लिए, दूसरे शब्दों में कहें तो यह कहना होगा कि, एक दूसरे से बिलकुल भिन्न विविध जातियाँ मूल में किसी एक ही जाति से उत्पन्न हुई हैं।

स्पेन्सर को तो यहाँ तक प्रतीत होने लगा था कि सृष्टि की उत्पत्ति-सम्बन्धी जो पहली उपपत्ति है शास्त्रीय भाषा में तो उसे उपपत्ति ही नहीं कह सकते—वह तो एक अज्ञानमूलक शब्दाडम्बर-मात्र है। उसका कहना है कि इस पृथ्वीतल पर न्यूनातिन्यून तीन लाख बीस हजार (३,२०,०००) प्रकार के प्राणी और बीस लाख (२०,००,०००) प्रकार के वनस्पति मिलते हैं; यदि पहली उपपत्ति के अनुसार यह माना जाय कि इनमें से प्रत्येक प्रकार का निर्माण ईश्वर ने स्वतंत्र रूप से ही किया है, तो हमें यह मानना पड़ेगा कि ईश्वर को सृष्टि-रचना करने में तेईस लाख बार निर्माण-कार्य करना पड़ा होगा—और, इससे सिवा गड़बड़ (ग़लतफ़हमी) के और कुछ न होगा। स्पेन्सर के मतानुसार यह कल्पना अत्यन्त क्षुद्र एवं मूर्खतापूर्ण है और विकासवाद से इस प्रश्न का जो उत्तर मिलता है वही इसकी अपेक्षा अधिक सम्पूर्ण और समाधानकारक है—अर्थात्, नैसर्गिक रूप

में इन सब जातियों या प्रकारों की वृद्धि मूल की कुछ जातियों से ही क्रमपूर्वक हुई है। विकास की कल्पना कितनी व्यापक है और ग्रहमण्डल, समाज, मानसशास्त्र आदि भिन्न-भिन्न स्थानों—अर्थात्, समष्टिरूप से, समस्त विश्व-पर वह कैसे लागू होती है, इस बात को स्पेन्सर ने ही पहले-पहल विशद रूप से प्रमाणित किया।

स्पेन्सर ने इस प्रकार विकासवाद को समस्त विश्व पर लागू करके बता तो दिया, परन्तु इतने पर भी लोगों का समाधान न हुआ। क्योंकि स्पेन्सर प्रधानतः तत्त्वज्ञानी ही था, विज्ञानवेत्ता या शास्त्रज्ञ नहीं; अतएव, सर्वसाधारण का समाधान कर देने-योग्य, प्रबल एवं प्रयोगसिद्ध प्रत्यक्ष प्रमाण देना उसके लिए सम्भव न था। फिर कुछ लोगों को विकासवाद के प्रति थोड़ी-बहुत सहानुभूति भी हुई तो जबतक वे यह न जान लेते कि विकास क्यों और कैसे होता है तथा उसके युक्तिपूर्ण कारण क्या हैं, वे खुले-आम विकासवाद के सिद्धान्त को मानने के लिए तैयार नहीं हो सकते थे—और, स्पेन्सर इन रहस्यों को खोलने में बिलकुल असमर्थ रहा। यह रहस्य खोलकर सर्व-साधारण के मनों में विकासवाद के सिद्धान्त को पैठाने का श्रेय तो अन्त में चार्ल्स डार्विन नामक सुप्रसिद्ध शास्त्रज्ञ को ही मिला; और, इसके कारण, उसकी इतनी ख्याति हुई कि विकासवादियों में ही

नहीं बल्कि गत-शताब्दी में उत्पन्न सभी शास्त्रज्ञों में आज उसका नाम चिरस्थायी हो गया है*—यहाँ तक कि कुछ लोग तो उसे ही विकासवाद का जनक मानते हैं। परन्तु हम तो ऊपर देखही चुके हैं कि डार्विन से पहले ही बफ़न, लेमार्क, स्पेन्सर आदि महानुभावों ने भली-भाँति विकासवाद का प्रतिपादन कर दिया था। यह ज़रूर है कि विद्वद्-समुदाय और खासकर शिक्षितवर्ग में इस विषय-सम्बन्धी जितनी खलबली सन् १८५९ ई० में इस विषय पर प्रकाशित डार्विन की 'जातियों का मूल' (Origin of Species) नामक पुस्तक ने मचाई, उतनी गत-शताब्दी में प्रकाशित और कोई पुस्तक न मचा सकी। पर इसका कारण था। वह यह कि डार्विन ने अनेक वर्षों के सतत परिश्रमपूर्ण प्राणि-शास्त्र एवं वनस्पतिशास्त्र के अध्ययन से जो भरपूर प्रमाण संग्रह किये थे इस पुस्तक में ऐसी सरल और तर्कसम्मत रीति से उन पर से अनुमान निकाले गये कि कोई बालक भी उन्हें भली-

* डीन इंगू ने हाल में लिखे हुए अपने एक लेख में समस्त जगत् में आज-पर्यन्त अवतरित होनेवाले महापुरुषों की तालिका दी है। इसमें डार्विन और पाश्चूर को उसने शास्त्रज्ञों (विज्ञानवेत्ताओं) में सम्मिलित किया है। यहाँ ध्यान देने-योग्य जो बात है वह यह कि डीन इंगू एक बड़ा धर्माचार्य था, मगर उसे भी डार्विन का नाम महापुरुषों की सूची में देना ही पड़ा।

भाँति समझ सकता है; साथ ही उसमें खास तौर पर इस बात की मीमांसा भी थी कि विकास कब और कैसे होता है। लेमार्क ने इससे पहले इस सम्बन्ध में जो मीमांसा की, वह हम पहले देख ही चुके हैं। परन्तु उस समय विकासवाद के सिद्धान्त का प्रसार नहीं हो सका था, क्योंकि अनेकों की दृष्टि में वह मीमांसा अपूर्ण थी। अस्तु।

डार्विन को बाल्यावस्था से ही प्राणिशास्त्र एवं वनस्पतिशास्त्र के अध्ययन की धुन सवार हो गई थी; तरह-तरह के फल-फूल, कीड़े-मकोड़े आदि विविध पदार्थ संग्रह करने का शौक़ उसे बचपन से ही बड़ा ज़बर्दस्त था। अपनी आयु के बाईसवें वर्ष में इसके लिए उसे एक स्वर्ण-संयोग भी प्राप्त हो गया। दक्षिण-अमेरिका की ओर जाने वाले एक जहाज़ में उसे सृष्टिशास्त्रज्ञ का कार्य करना पड़ा। इस सिलसिले में वह पाँच वर्ष तक लगातार प्रवास-ही-प्रवास करता रहा। इस प्रवास में उसे जो-जो अनुभव हुए, तथा जो-जो सामग्री उसने संग्रह की, उन्हीं सबके आधार पर प्रवास के बाद उसने अपने उक्त ग्रंथ का निर्माण किया। सृष्टि की उत्पत्ति-विषयक प्रचलित पहली उपपत्ति के सम्बन्ध में डार्विन को पहले-पहल जो शङ्का उत्पन्न हुई, वह इसी प्रवास में; और इन पाँच वर्षों के सूक्ष्म-निरीक्षण से उसे यह दृढ़-विश्वास हो गया कि इस जीव-सृष्टि में जो विविधता और

उस विविधता में ही जो एक प्रकार की व्यवस्थितता दृष्टिगोचर होती है उस सबका कारण दैवी या ईश्वरीय इच्छा न होकर उसका (विविधता का) मूल नैसर्गिक एवं नियमबद्ध भित्ति पर ही निर्भर होना चाहिए।❀ क्योंकि, अपने प्रवास में उसे कितने ही ऐसे पक्षी मिले कि जो साधारण दृष्टि से देखने में एक-दूसरे से थोड़े-बहुत भिन्न मालूम पड़ते थे; परन्तु वस्तुतः जहाँ उनमें कुछ एक-दूसरे से बिलकुल भिन्न थे वहाँ कुछ मिलते-जुलते भी थे; और तब जिस प्रकार कि क़वायद के समय सिपाहियों की ऊँचाई से उनका क्रम लगाया जाता है वैसे ही उसने भी पारस्परिक अन्तर से ही उनका क्रम लगाया। अर्थात्, जिस प्रकार क़वायद में पास-पास के सिपाहियों की ऊँचाई प्रायः बराबर ही मालूम पड़ा करती है किन्तु अलग-अलग छाँटकर नापने पर उनमें बहुत-कुछ फ़र्क़ निकलता है वैसे ही, इस अनुक्रम में पास-पास की वनस्पतियाँ बहुत-कुछ समान दीखने पर भी जाँच करने पर उसे उनमें बहुत-कुछ फ़र्क़ मिला। इस उदाहरण में यदि हम

❀ डार्विन से पहले लायल (Lyel) ने अपने 'भूगर्भशास्त्र के सिद्धान्त' (Principles of Geology) नामक ग्रंथ में पृथ्वी के पृष्ठ-भाग की उत्पत्ति-सम्बन्धी जो विचार शैली प्रयुक्त की थी, उसका भी डार्विन के मन पर बहुत-कुछ प्रभाव पड़ा था—यह यहाँ प्रकट कर देना आवश्यक है।

कोई दो प्रकार की वनस्पतियों में से केवल एक-एक वनस्पति को लेकर केवल उसपर ही विचार करें तो, उनमें परस्पर बहुत अन्तर होने के कारण, हमारे मन में यह कल्पना होना सम्भव है कि इनकी उत्पत्ति स्वतंत्र रूप से हुई होगी। परन्तु इसके साथ ही उन दोनों वनस्पतियों के बीच स्थित अन्य अनेक वनस्पतियों पर भी यदि हम ध्यान दें तो हमारे मन में सहज ही यह शंका उत्पन्न हो जायगी कि ये सब वनस्पति बीच ही में एकाएक उत्पन्न न होकर इनमें थोड़ा-बहुत पारस्परिक सम्बन्ध एवं क्रम अवश्य रहा होगा और उसी क्रम के अनुसार एक-दूसरे से ही इन सबकी उत्पत्ति हुई होगी। अपने पाँच वर्ष के प्रवास में डार्विन ने जो अनेक प्राणी एवं वनस्पति देखे, उनमें ऐसे अनेक उदाहरण उसे मिले; और, उन्हींपर से, विकासवाद पर उसका विश्वास होने लगा था।

इन सब बातों से जब विकासवाद पर डार्विन का विश्वास जम गया तब उसे यह जिज्ञासा हुई कि सृष्टि में विकास कब और कैसे होता है—अर्थात्, किसी प्राणी या वनस्पति में धीरे-धीरे अन्तर पड़ते हुए कालान्तर में उनसे भिन्न एक दूसरे प्रकार के प्राणी या वनस्पति की उत्पत्ति कैसे होती है? अनेक वर्षों तक वह इसपर विचार करता रहा।

अन्त में एक दिन अचानक ही उसे इस रहस्य का पता चल

गया। एक दिन यूंही लेटे-लेटे वह मेथल नामक एक लेखक की लिखी हुई 'जन-वृद्धि की मीमांसा' नाम की पुस्तक पढ़ रहा था, जिसमें यह प्रतिपादन किया हुआ है कि मनुष्यों में जन-वृद्धि भूमिति के नियमानुसार होती है और जीवन के साधन-रूप अन्नादि समस्त (खाद्य) पदार्थों में केवल अङ्कगणित के नियमानुसार इनी-गिनी। अर्थात्, मनुष्यों की प्रत्येक पीढ़ी में जहाँ १ : २ : ४ : ८ के अनुपात से जन-वृद्धि होती है वहाँ जीवन के साधन-रूप अन्नादि पदार्थों में केवल १ : २ : ३ : ४ के अनुपात से वृद्धि होती है। इसीपर डार्विन की कल्पना-बुद्धि जाग्रत हुई। तब अन्य प्राणी एवं वनस्पतियों पर भी उसने इस सिद्धान्त को लागू करके देखा। इसपर से सहजही उसने यह निष्कर्ष निकाला कि प्राणियों की संख्या-वृद्धि की अपेक्षा उनके जीवन के साधन-रूप पदार्थों की वृद्धि जब कम होती है तो यह निश्चय है कि आगे चलकर (भविष्य में) एक खास समय ऐसा अवश्य आयगा, जब कि लोगों को अन्न की कमी महसूस होने लगेगी; और फिर, ज्यों-ज्यों समय बीतता जायगा त्यों-त्यों, अन्न का वह अभाव और भी अधिकाधिक महसूस होने लगेगा। फिर जब समस्त प्राणियों की उदर-पूर्ति के योग्य अन्न न रहेगा तब, अपनी-अपनी उदर-पूर्ति-योग्य अन्न की प्राप्ति के लिए, उनमें आपस की चढ़ा-ऊपरी मच जायगी; फल-स्वरूप जिन्हें भरपूर अन्न मिल जायगा वे तो

शेष (जीवित) बच रहेंगे, बाक़ी के सब लोग भूखों मर मिटेंगे। अब विचार यह करना चाहिए कि किसी भी जाति के अनेक व्यक्तियों में, ऐसी चढ़ा-ऊपरी होने पर, कौन से व्यक्ति शेष रहेंगे—अर्थात्, भरपूर अन्न उनमें से किन्हें प्राप्त हो सकेगा? अस्तु, यह तो हमें मालूम ही है कि किसी एक ही जाति के अनेक व्यक्ति हूबहू एकसे ही कभी नहीं होते। व्यक्ति-व्यक्ति में, एक-दूसरे से, थोड़ा-बहुत फ़र्क़ तो होता ही है। कोई सशक्त तो कोई अशक्त, कोई चपल तो कोई सुस्त, कोई धूर्त्त तो कोई सरल, इस प्रकार के भेद अवश्यम्भावी हैं। ऐसी हालत में, अन्न का अभाव होने पर, अधिक अन्न तो उन्हीं व्यक्तियों को मिलेगा कि जो अपेक्षाकृत अधिक सशक्त, धूर्त्त अथवा चपल होंगे; और इस प्रकार इस चढ़ा-ऊपरी या संघर्ष में केवल वही व्यक्ति टिक सकेंगे, बाक़ी तो सब उनके पैरों-तले रूँदकर समाप्त ही हो जायँगे! इस प्रकार इस चढ़ा-ऊपरी या संघर्ष में समस्त व्यक्तियों में से केवल ऊपर कहे हुए विशिष्ट गुण-सम्पन्न कुछ व्यक्ति ही विजयी होकर ज़िन्दा बचेंगे, बाक़ी सब मर मिटेंगे। इसके बाद उनके आगे की पीढ़ियों में, आनुवंशिकत्व के अनुसार, ये विशिष्ट गुण फिर से विशेष परिमाण में प्रकट होंगे; और, अनेक पीढ़ियों तक यही क्रम जारी रहने पर, अन्त में जो प्रजा उत्पन्न होगी वह पहली प्रजा से बिलकुल भिन्न हो सकेगी।

मतलब यह कि इस उदाहरण में यदि उक्त प्राणियों की सौ या हजार पीढ़ियों बाद होने वाली प्रजा से प्रारम्भिक पीढ़ी की प्रजा की तुलना की जाय तो मालूम होगा कि वर्तमान प्रजा की अपेक्षा भावी प्रजा कहीं अधिक सशक्त, चपल एवं धूर्त होगी; और इस प्रकार जो परिवर्तन होगा, अर्थात् ऐसा जो विकास होगा, वह केवल एक विशिष्ट नैसर्गिक परिस्थिति में और नैसर्गिक नियम के अनुसार ही होगा। डार्विन की यह विचार-शैली अत्यन्त सीधी-सादी, सरल और तर्कसम्मत है। इस प्रकार डार्विन के समय तक जिस रहस्य का उद्घाटन नहीं हुआ था, उसे डार्विन ने खोलकर रख दिया; और इसमें विकास का कारण उसने जीवन-रक्षा के लिए होने वाली चढ़ा-ऊपरी (संघर्ष) और उसमें विजय पाने-योग्य अत्यन्त-योग्य प्राणियों के शेष (जीवित) रहने की शक्यता को बतलाया।

ऊपर डार्विन की उपपत्ति का कुछ ही दिग्दर्शन कराया गया है; क्योंकि आगे चलकर इसी विषय पर हमें विस्तार के साथ विचार करना है। तथापि, यह तो कहना ही होगा, सर्व-साधारण को उसकी उपपत्ति इतनी सीधी-सादी और सम्पूर्ण प्रतीत हुई है कि इसके द्वारा विकासवाद का शीघ्रता के साथ प्रसार होकर अन्त में सर्वत्र उसीका बोलबाला हो गया है। यह ठीक है कि सन् १८५९ ई० में जब डार्विन ने अपने इस 'जातियों का मूल'

ग्रन्थ के द्वारा पहले-पहल इस उपपत्ति की घोषणा की, तो—उस समय लोगों के प्राचीन मताभिमानी होने के कारण—अनेकों ने खूब जोरों से डार्विन का विरोध किया था। परन्तु डार्विन की विचार-शैली तो इतनी अचूक और उसकी मीमांसा ऐसी जबर्दस्त नींव पर स्थापित थी कि चाहे-जैसे आघात होने पर भी उनका फिसलना बहुतांश में असम्भव ही था। अलावा इसके डार्विन स्वयं तो यद्यपि बहुत वाद-विवाद-पटु न था, मगर उसकी मदद के लिए इंग्लैण्ड में हक्सले और जर्मनी में हेकेल सरीखे अतिशय विद्वान्, तार्किक और वाद-विवाद में सिद्ध-हस्त शिष्य उसे मिल गये थे। उन्होंने अपने लेखों और व्याख्यानों के द्वारा विकासवाद का ऐसा जबर्दस्त प्रसार किया कि उसके फल-स्वरूप आज-पर्यन्त इस सिद्धान्त के विरुद्ध एक अक्षर भी नहीं सुनाई पड़ता। यही नहीं बल्कि अर्वाचीन शास्त्रीय एवं तात्त्विक वाङ्मय में तो यह सिद्धान्त इतना बद्धमूल हो गया है कि अब तो इसे बहुत कुछ स्वयं-सिद्ध ही माना जाने लगा है।
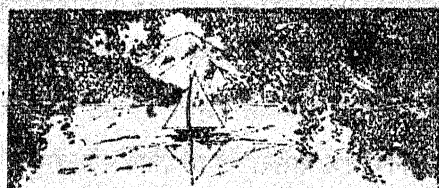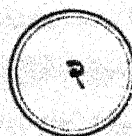
विकास के प्रमाण

पिछले अध्याय में ऐतिहासिक दृष्टि से विकासवाद के सम्बन्ध में विचार करके यह तो हम जान ही चुके हैं कि आजकल के (अर्वाचीन) सभी शास्त्रों में यह सिद्धान्त ऐसा दृढ़मूल हो गया है कि कोई समझदार आदमी तो अब इसके बारे में शंका करता ही नहीं। क्योंकि प्राणिशास्त्र और वनस्पतिशास्त्र में जो अनेक बातें दृष्टिगोचर होती हैं, इस सिद्धान्त के द्वारा न केवल उन सबकी शृङ्खला ही बड़ी उत्तमता के साथ लग जाती है बल्कि इन शास्त्रों की अनेक महत्वपूर्ण अर्वाचीन शोधों का दारमदार भी इसीपर है। तथापि किसी बात के सर्व-

सम्मत होने ही के कारण हम उसपर विश्वास क्यों करलें, जब-तक कि उसके कारणों की छानबीन न करली जाय? अतः इस अध्याय में संक्षेप में उन कारणों का ही कुछ वर्णन किया जाता है।

यह तो पहले अध्याय में हम देख ही चुके हैं कि जीव-सृष्टि में होने वाली प्राणियों एवं वनस्पतियों की भिन्न-भिन्न जातियों (किस्मों) की उत्पत्ति के बारे में दो तरह की उपपत्तियाँ दी जाती हैं। एक तो यह कि प्रत्येक जाति को ईश्वर ने पृथक्-पृथक् अर्थात् स्वतंत्र रूप से निर्माण किया है—अर्थात् अद्भुत या दैवी; और दूसरी यह कि इन सब जातियों की उत्पत्ति किन्हीं स्वाभाविक अथवा नैसर्गिक कारणों से ही हुई है। इनमें दूसरी मीमांसा अर्वाचीन है और पहली प्राचीन। शास्त्रीय शोधों के इतिहास को हम देखें तो साधारणतः उनमें भी हमें यही बात दिखाई पड़ेगी। उदाहरणार्थ, पहले एक समय ऐसा था कि अगर कोई आदमी बीमार पड़ता तो उसे अच्छा करने के लिए मंत्र-तंत्रादि का प्रयोग किया जाता था। अर्थात् उस समय के लोगों की यह धारणा थी कि जो भी रोग होते हैं वे सब किसी न किसी दैवी अथवा अमानुषीय कारण से ही होते हैं, मनुष्य का उसमें कोई वस नहीं। परन्तु बाद में जैसे-जैसे समय बीतता गया उन्हें इस बात की असत्यता प्रतीत होने लगी और तब मंत्रों के बजाय

औषधियों का प्रयोग शुरू हुआ। अर्थात् कालान्तर में लोगों को यह विश्वास हो गया कि दैवी नहीं बल्कि किन्हीं स्वाभाविक या नैसर्गिक कारणों ही से रोगों की उत्पत्ति होती है और तब उनका निदान भी नैसर्गिक उपायों से ही किया जाने लगा। हमारे सामने जो प्रश्न है, उसपर भी यही बात लागू होती है; और उसपर से यह अनुमान निकलना स्वाभाविक ही है कि विभिन्न जातियों की उत्पत्ति का कारण भी दैवी नहीं नैसर्गिक ही होना चाहिए।

सभी चीजें थोड़े बहुत परिमाण में बराबर बदलती रहती हैं, जैसा इस समस्त सृष्टि पर सूक्ष्म दृष्टिपात करने पर दिखलाई भी पड़ता है। समाज की रचना, तारागण, मनुष्य की कल्पना, अथवा अन्य किसी भी वस्तु को लीजिए, उन सबके परमाणु बराबर बदलते ही रहते हैं। हमारी पृथ्वी भी आरम्भ में तो तप्त एवं वायुमय—अर्थात् तेज या अग्नि और वायु से भरी हुई—ही थी; क्रम-क्रम से स्थिति में परिवर्तन होते हुए ही तो, कालान्तर में, उसे पहले द्रव-रूप और उसके बाद घन-रूप प्राप्त हुआ। उस समय तो इसकी ऊष्णता इतनी अधिक थी कि किसी प्राणी अथवा वनस्पति का इसपर नाम भी न था। तब, इसी नियम के अनुसार, यदि हम यह अनुमान लगावें कि जिन अनेक प्राणियों एवं वनस्पतियों को आज हम इस भूमण्डल पर देखते हैं वे सब

भी किसी प्रकार एकाएक यहाँ नहीं आ पहुँचे बल्कि क्रम क्रम से बदलते हुए ही इस स्थिति को प्राप्त हुए होंगे, तो यह निश्चय ही सम्भव प्रतीत होगा।

जीव-सृष्टि में भिन्न-भिन्न प्रकार के असंख्य प्राणी एवं वनस्पति हैं; जिनका प्राणिशास्त्र एवं वनस्पतिशास्त्र के आचार्यों ने वर्गीकरण भी किया है। उस वर्गीकरण को यदि हम बतलाना चाहें तो हमें वैसा ही करना होगा, जैसे कि इतिहास में आम तौरपर किसी परिवार की वंशावली दी जाती है। अर्थात् प्राणियों के भिन्न-भिन्न वर्गों-उपवर्गों और जातियों-उपजातियों का सब मिलाकर एक बड़ा वृत्त ही बन जायगा। फिर इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान रखना चाहिए कि जिन प्राणियों अथवा वनस्पतियों का वर्गीकरण किया जायगा, आकाश के तारागणों की नाईं, उन्हें गिनना भी कुछ सहज नहीं है। अतएव इस झंझट से बचने की दृष्टि से हम उसे यहाँ नहीं दे रहे हैं, वैसे उसकी रचना पूर्णतः नैसर्गिक तौरपर ही हुई है। किसी भी वर्ग के भिन्न-भिन्न प्राणियों को लें तो उनके शरीरों की रचना में थोड़ा-बहुत सादृश्य तो मिलेहीगा। इसी प्रकार एक वर्ग से दूसरे वर्ग में जाने वाले प्राणियों के बीच अपेक्षाकृत और भी अधिक समता दृष्टिगोचर होगी। मतलब यह कि वर्गीकरण के समस्त वृत्त पर सूक्ष्म दृष्टिपात किया जाय तो सहज ही कल्पना होगी कि ये सब प्राणी

मानों एक बड़ा भारी वंश-विस्तार ही है, और जिस प्रकार किसी वंशावली के मनुष्यों में नजदीकी या दूर-पार के कुछ-न-कुछ नाते-रिश्ते होते ही हैं वैसे ही इन विभिन्न प्राणियों में भी परस्पर कुछ-नकुछ सम्बन्ध अवश्य होगा; यही नहीं बल्कि जैसे-जैसे वर्गीकरण पर ध्यान दिया जायगा वैसे-वैसे वे नाते भी अधिकाधिक निकटवर्त्ती प्रतीत होते जायँगे। इसपर से सहज ही यह कल्पना होती है कि अवश्य ही ये सब प्राणी मूल में कुछ थोड़े से पूर्वजों के ही वंशज हैं; यदि कुछ अन्तर है तो यही कि वे पूर्वज लाखों वर्ष पहले, अर्थात् अत्यन्त प्राचीन काल में, हुए होंगे। (चित्र नं० २)

इस प्रकार विकासवाद का मूल यही कल्पना है कि परिस्थिति में जैसे-जैसे परिवर्त्तन होता जाता है उसीके अनुसार प्राणियों की शरीर-रचना भी बदलती जाती है, जिससे कि वे उस परिवर्त्तित परिस्थिति का मुक़ाबला करने में असमर्थ न रहें, और फिर आनुवंशिक-संस्कारानुसार भावी पीढ़ियों में क्रमशः वृद्धि होते हुए अन्त में उन प्राणियों के सारे रंग-रूप ही बदले हुए मालूम पड़ने लगते हैं। अब देखना यह है कि परिस्थिति के अनुसार शरीर-रचना में परिवर्त्तन होने की बात का समर्थन करने वाले कुछ प्रमाण भी मिलते हैं या नहीं।

विचार करने पर मालूम पड़ेगा कि ऐसे प्रमाणों की कुछ

की कमी नहीं। प्राणिशास्त्र और वनस्पतिशास्त्र तो उनसे भरे पड़े हैं। अतः उनमें से मुख्य-मुख्य कुछ उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं। बाहर से एक-दूसरे से बिलकुल भिन्न दीखने वाले कुछ प्राणियों को लीजिए। उनके शरीरों की अन्तर्रचना देखें तो हमें उनमें विलक्षण समता मिलेगी—और वह भी इतनी प्रत्यक्ष कि हमें आश्चर्य इसी बात पर होगा कि अन्दर एक-दूसरे के समान (एकसे) होते हुए भी इनके बाह्य रूप में इतनी भिन्नता कैसे हो गई ! परन्तु विकासवाद के अनुसार विचार करें तो बड़ी सुन्दरता के साथ हमें इसका कारण मालूम हो जायगा, जो कि नीचे दिया जाता है।

उदाहरण के लिए मनुष्य, बन्दर, पक्षी, चिमगादड़, ह्वेलमछली और सीलमछली, इन छः प्राणियों को लीजिए। बाहर से देखने में इनमें एक-दूसरे से इतनी भिन्नता है कि इनमें से किसी एक को देखकर उसपर से दूसरे की तो कल्पना तक न होगी, क्योंकि संचय (हलचल), आहार-विहार आदि इनकी सभी बातें एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। मगर दिल्लगी यह है कि उनके किसी अवयव को लेकर उसकी अन्तर्रचना पर यदि हम सूक्ष्म दृष्टिपात करें तो उसमें तो इतनी समानता है कि हमें एकाएक यह संदेह होने लगेगा कि किसी एक ही प्राणी के अवयवों को तो कहीं हम बार-बार नहीं देख रहे हैं ! समझने के लिए इन सब

प्राणियों के हाथ और पाँव लेकर सबसे पहले मनुष्य की अन्तर्रचना पर ही विचार कीजिए।

मनुष्य के पूरे हाथ अर्थात् कन्धे से लेकर अंगुलियों तक की अन्तर्रचना कैसी होती है, यह चित्र नं० ३ में प्रदर्शित है। उसमें कन्धे से लेकर कुहनी तक तो एक लम्बी हड्डी है (चित्र में यह नहीं बतलाई गई है), दो परस्पर जुड़ी हुई हड्डियाँ कुहनी से कलाई तक हैं, तदुपरान्त दो अवलियाँ (पंक्तियाँ) छोटी-छोटी हड्डियों की हैं, उनके बाद पाँच हड्डियाँ हथेली की तथा सबके आख़ीर में पाँच अंगुलियाँ हैं, जिनमें हरएक में एक के बाद एक इस प्रकार दो-दो या तीन-तीन हड्डियाँ होती हैं। यही हाल पाँव की अन्तर्रचना का है; यदि कुछ फ़र्क़ है तो वह सिर्फ हड्डियों की छुटाई-बड़ाई का। मनुष्य ही क्यों, बन्दर के हाथ-पाँव की अन्तर्रचना को लें तो वह भी ऐसी ही है; यदि कुछ फ़र्क़ है तो यहाँ भी वही मनुष्य व बन्दर के हाथ-पैरों की उपर्युक्त हड्डियों की छुटाई-बड़ाई का ही है।

अब ज़रा सीलमछली और 'व्हेल' या देवमछली को देखिए (चित्र नं० ३ व ४)। मनुष्य और बन्दर में इतनी तो समानता है कि वे दोनों ही ज़मीन पर रहने वाले हैं; पर मनुष्य और देवमछली व सीलमछली के बीच तो यह समानता भी नहीं है। देवमछली जहाँ पूर्णतः जलचर है—अर्थात् सदैव पानी में रहती

चित्र नं० ३
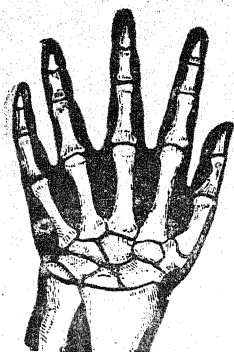
मनुष्य का हाथ
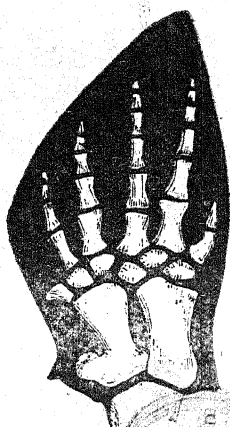
देवमछली का पर

चित्र नं० ४
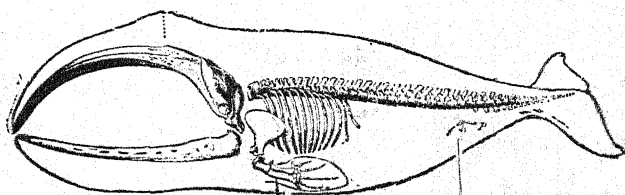
देवमछली
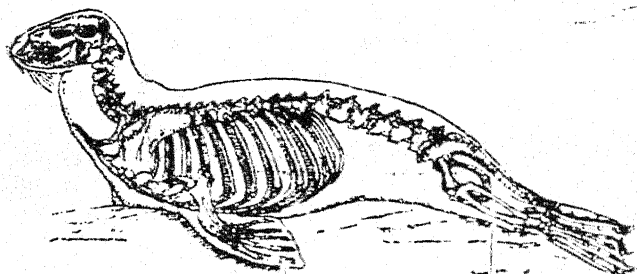
चित्र नं० ५
हाथ
पैरों के अवशेष
सीलमछली
चित्र नं० ६
टेरोडॅकटिल
(एक प्राचीन पक्षी)
चिमगादड़
अर्वाचीन पक्षी
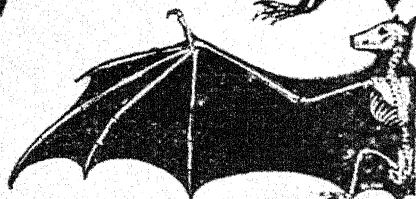
है, तहाँ सीलमछली है अर्द्ध-जलचर अर्थात् कभी पानी में रहती है तो कभी पृथ्वी पर भी। फिर यह तो सब जानते ही हैं कि जमीन पर चलना और पानी में तैरना दो सर्वथा भिन्न क्रियायें होने के कारण किसी एक ही तरह की शरीर-रचना दोनों जगह एकसी उपयोगी नहीं हो सकती। पानी में तैरने वाले की शरीर-रचना यदि दोनों तरफ़ चुरट की तरह हो तो वह तैरने वाले के लिए विशेष उपयोगी होगी; क्योंकि ऐसा शरीर-रचना से पानी के प्रतिरोध में कमी होकर तैरने वाले को तैरने में सुगमता हो जाती है। इसी प्रकार तैरने में पाँवों की अपेक्षा हाथों का ही उपयोग अधिक होता है, जैसा कि तैरना जाननेवालों को प्रत्यक्ष अनुभव भी होगा। इन दोनों कारणों से पानी में रहने वाले जीवों के लिए कैसी शरीर-रचना अपेक्षाकृत अधिक श्रेयस्कर होगी, यह पाठक समझ ही गये होंगे। अब यदि हम चित्र में प्रदर्शित देवमछली तथा सीलमछली की शरीर-रचना को देखें तो मालूम हो जायगा कि उपर्युक्त दोनों भेद थोड़े-बहुत परिमाण में उनमें बने ही हुए हैं। हाथों का रूपान्तर तो दोनों ही में परों या डैने (Fin) में हो गया है; और चूंकि पानी में रहते हुए इन्हें अपने इन परों पर ही अवलम्बित रहना पड़ता है, इसलिए इनमें मजबूती भी खूब आ गई है। इसी प्रकार मनुष्य के हाथ की अंगुलियों में उन्हें अलग-अलग करने की जो सामर्थ्य होती है,

देवमछली तथा सीलमछली में वह नष्ट होकर हाथों का रूपान्तर करने में सारा लक्ष्य तैरने की सुविधा पर दिया गया है, जिससे सारे हाथ पर एक प्रकार के छोटे-छोटे कोश होकर उनका एक अच्छा-भला डैना ही बन गया है।

तैरने में पाँवों का विशेष उपयोग नहीं होता, यह पहले कहा ही जा चुका है; अतः स्वभावतः जलचर प्राणियों में उनकी कोई खास जरूरत न रही। इसीलिए देवमछली में पाँवों का भाग नष्ट होकर पैर बिलकुल नहीं-से रह गये हैं। परन्तु इसके विपरीत सीलमछली है अर्द्धजलचर, जिससे उसे थोड़ा-बहुत जमीन पर चलना ही पड़ता है। अतः हाथों का तो यद्यपि उसमें भी देव-मछली ही के समान रूपान्तर हो गया है, पर पाँवों का थोड़ा अवशेष रह ही गया है। (चित्र नं० ४ व ५)

लेकिन बाह्याकृति में इतनी विभिन्नता हो जाने पर भी इन दोनों प्राणियों के डैनों की अन्तर्रचना में तो सब हड्डियाँ और उनकी रचना क़रीब-क़रीब मनुष्य के हाथ के समान ही हैं, जैसा कि चित्र नं० ३ में देखा जा सकता है। इस चित्र में पाठक देखेंगे कि, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, देवमछली में पैरों का कोई निशान नहीं है, परन्तु सीलमछली के शरीर की बाह्याकृति में हमें पैरों का थोड़ा-बहुत निशान मिलता है और अखीर में क़रीब-क़रीब मनुष्य के पैरों की हड्डियों के समान ही हड्डियाँ

दृष्टिगोचर होती हैं—यही नहीं किन्तु ये हड्डियाँ सीलमछली के शरीर में जुड़ भी उसी प्रकार रही हैं, जैसे कि मनुष्य के शरीर में पैर जुड़े रहते हैं।

यह तो हुआ जलचर प्राणियों के सम्बन्ध में। अब पक्षियों को लीजिए। पक्षियों में हाथों का रूपान्तर, डैने के बजाय, पङ्खों में हुआ दिखलाई देता है; और वह इस प्रकार कि जिससे उड़ते समय, वायु में संचार करने में, उन्हें सुगमता रहे। यह तो सभी को मालूम है कि मनुष्य के हाथ में अधिकांश शक्ति कलाई व बाज़ू ही के स्नायुओं में रहने के कारण अंगुलियों के स्नायुओं में बहुत कमज़ोर रहता है। अतः हाथों का उपयोग जब उड़ने के लिए होने लगा, तो, उसमें अंगुलियों की अपेक्षा कलाई की ज़रूरत अधिक होती ही है, इसलिए पक्षियों में अंगुलियों की लम्बाई कम होकर पङ्खों का अधिकांश विस्तार कलाई और भुजा में होना स्वाभाविक ही था—अर्थात् अंगुलियों की जगह उनमें कलाई और बाज़ू अधिक लम्बे हो गये। मगर अंगुलियों की संख्या में कमी और आकार में विभिन्नता हो जाने पर भी, जैसा कि चित्र नं० ६ में दिखाई देगा, उनके और सब भाग तो ज्यों-के-त्योंही क़ायम हैं; यहाँ तक कि उनके बजाय यदि चिमगादड़ का पङ्ख लिया जाय तो उसमें तो हमें अंगुलियों की संख्या तक ज्यों-की-त्यों मौजूद मिलती है।

ऐसी दशा में उपर्युक्त सब बातों की समाधानकारक उपपत्ति कैसे लगाई जाय? उदाहरण के लिए इन प्राणियों के एक विशेष अवयव का तुलनात्मक विचार करके यह तो हम देख ही चुके हैं कि अपनी-अपनी सुविधा-असुविधा के अनुसार इन विभिन्न प्राणियों की शक्ल-सूरतों में भी विभिन्नता हो गई है। मगर तुर्क यह है कि इतने पर भी उस अवयव की अन्तर्रचना तो इन सब में अभी भी ज्यों-की-त्योंही एकसमान है, जैसा कि सूक्ष्मदृष्टि से विचार करके हम देख भी चुके हैं। फिर यह भी नहीं कि यह समानता उस अवयव की हड्डियों ही में हो, प्रत्युत् उसके स्नायुओं एवं रक्तवहियों में भी यही बात दृष्टिगोचर होती है। अतः देखना यह है कि अन्दर तो एकही तरह का ढाँचा और रचना भी एक ही तरह की, पर बाहर बिलकुल निराले प्राणी, वास्तव में यह बात क्या है—सृष्टिदेवता का कोई जादू है, या इसका कोई समाधानकारक कारण भी है?

इन सब बातों का विचार करें तो, हमें यही कहना पड़ेगा, इस सब विभिन्नता का कारण, एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न दीखनेवाले इन सब प्राणियों में किसी-न-किसी सामान्य तत्त्व का अस्तित्व ही होना चाहिए; अर्थात् इनमें कोई-न-कोई सर्वसामान्य सम्बन्ध अवश्य होगा, और आनुवंशिक संस्कार एवं विकास ही मानों वह तत्त्व या सम्बन्ध है। इस सिद्धान्त के अनुसार देवमछली,

सीलमछली, पक्षी और मनुष्य, इन सबके अत्यन्त प्राचीन काल के पूर्वज ज़मीन पर रहने वाले कोई-न-कोई प्राणी ही थे, जिनकी दशा में क्रमानुसार परिवर्त्तन होते हुए कालान्तर में उनमें से कोई तो जलचर हो गया और किसी को वायु में रहने का संयोग हुआ। अर्थात् जैसे-जैसे परिस्थिति बदलती गई उसके साथ-साथ उनके शरीरों में भी ऐसे परिवर्त्तन होना आवश्यक हुआ कि जिससे वे परिवर्त्तित स्थिति का मुक़ाबला कर सकें। और जिन भागों से इस विभिन्नता का आरम्भ होता है उनमें से मुख्य हैं—शरीर की चमड़ी, दाँत, नाख़ून आदि। चूँकि ये भाग प्रत्येक व्यक्ति में समय-समय पर प्रायः बदलते ही रहते हैं, इसलिए सबसे पहले इन्हींसे परिवर्त्तन का आरम्भ होना स्वाभाविक ही है। परन्तु फिर शरीर के इनसे अधिक महत्व के भागों में भी परिवर्त्तन शुरू होकर कालान्तर में शरीर के बाह्यरूप में ऐसे फेर-बदल हो गये कि जिन्हें ज़मीन पर चलने के बजाय पानी में तैरने का संयोग हुआ वे तैरने के और जिन्हें वायु में उड़ने का संयोग हुआ वे उड़ने के उपयुक्त हो गये; अर्थात् एक ओर तो हाथ के डैने बन गये, दूसरी ओर पङ्ख या पर। सीलमछली में यह परिवर्त्तन पूरे तौरपर नहीं हुआ; क्योंकि, जैसा कि हम देख चुके हैं, उसके शरीर में यद्यपि पैर की बहुत-सी हड्डियाँ मिलती हैं तो भी उसके पैर छोटे रहकर सिरे पर आगे को मुड़े हुए होने

से चलने के प्रायः निरुपयोगी ही हो गये हैं। देवमछली का चूँकि पानी से अधिक सम्बन्ध रहता है, इसलिए वह इससे आगे बढ़ गई है; अर्थात् उसके शरीर में न केवल बाहर ही पैरों का नाम-निशान नहीं रहा बल्कि अन्दर भी नाम-मात्र ही अवशेष रह गया है। परन्तु ये जो फेर-बदल या परिवर्त्तन हुए, यह ध्यान रखने की बात है, वे सब पानी में तैरने और आकाश में उड़ने में सुगमता होने की ही दृष्टि से हुए हैं। अर्थात् इन सबकी अन्तर्रचना एकसमान दीखने का कारण केवल यही है कि शेष भागों में परिवर्त्तन की जरूरत न थी। इसपर से कहना पड़ेगा कि बाहर एक-दूसरे से बिलकुल भिन्न दीखनेवाले ऐसे प्राणियों की अन्तर्रचना में हमें जो विलक्षण समानता दृष्टि-गोचर होती है उसे विकासवाद का समर्थक बढ़िया प्रमाण ही मानना होगा।

इसी प्रकार कई प्राणियों में कुछ ऐसे भाग मिलते हैं कि जो अन्य प्राणियों के वैसे ही भागों के बिलकुल ही समान होते हैं, किन्तु उनका उपयोग उन प्राणियों में बिलकुल नहीं होता। इन्हें हम 'अवशिष्ट भाग' कह सकते हैं। जैसे किसी-किसी देवम-छली के दाँत होते हैं, यद्यपि उनका उपयोग उसे कुछ भी नहीं होता। साँपों में भी किसी-किसी में बहुत जरा-जरा-से पाँव होते हैं, पर उपयोग इनमें भी उनका कुछ नहीं होता। ये अवशिष्ट

भाग इन प्राणियों में कहाँ से और क्यों आये, यह एक विचारणीय बात है। पर विकासवाद के अनुसार इस जिज्ञासा का समाधान भी भली-भाँति हो जाता है। क्योंकि विकासवाद के अनुसार इन अवशिष्ट भागों का पाया जाना यह सिद्ध करता है कि इन प्राणियों में अब चाहे इनका कोई उपयोग नहीं रहा परन्तु पहले किसी समय उनमें इनका उपयोग अवश्य होता था; बाद में जैसे-जैसे उपयोग कम होता गया उसके साथ-साथ ये भी घटते गये, यहाँ तक कि अन्त में उनके अवशेष-मात्र शेष रह गये। इसके लिए किसी दृष्टान्त की जरूरत हो तो हम उन स्वरों का उदाहरण ले सकते हैं, जिनका उच्चारण नहीं होता। यथा, मैंने, घर में, आदि। उच्चारण की दृष्टि से देखा जाय तो इन शब्दों में लगे हुए अनुस्वारों का उपयोग या आवश्यकता सर्वथा हुई नहीं; तथापि ग़ौर करने पर पता चलेगा कि उनसे इन शब्दों के पूर्व-रूपों का परिचय मिलता है। इसी प्रकार विकासवाद के अनुसार हम कहेंगे कि उक्त अवशिष्ट भाग भी उन-उन प्राणियों के पूर्व-रूपों के ही परिचायक हैं।

विकास-सम्बन्धी और भी ज़ोरदार प्रमाण की ज़रूरत हो तो वह गर्भशास्त्र में मिल सकता है, जो नीचे दिया जाता है।

किसी भी प्राणी की गर्भावस्था में होने वाली वृद्धि पर यदि हम सूक्ष्म दृष्टिपात करें तो हमें बड़े ही विचित्र चमत्कार दिखाई

पड़ेंगे। हम देखेंगे कि गर्भावस्था के आरम्भ में तो प्रत्येक प्राणी, फिर वह चाहे कितना ही छोटा-बड़ा क्यों न हो, एक अत्यन्त सूक्ष्मगर्भ कोश ही के रूप में रहता है और वहीं से फिर उसकी वृद्धि शुरू होकर क्रमशः उसका विकास होता जाता है। इस स्थिति में जब हम उसे देखें तब हमारे लिए सहज ही यह कह सकना सम्भव नहीं कि इसमें आगे चलकर अमुक प्रकार का प्राणी होगा। कितने ही महान् किसी पुरुष को क्यों न लें, फिर वह कालिदास या शिवाजी ही क्यों न हों, जीवन-क्रम का आरम्भ तो उनमें भी उपर्युक्त प्रकार के एक छोटे से कोश से ही हुआ होता है। इस स्थिति में उसमें हाथ पैर आदि अवयवों का तो नाम-निशान भी नहीं होता, तथापि मात्र नव मास की अवधि में उसमें ये सब अवयव उत्पन्न होकर वह बिलकुल मनुष्य-जैसा दीखने लगता है—और फिर २५–३० वर्ष के बाद तो वही प्राणी शकुन्तला सरीखे उत्तम नाटक की रचना कर सकता है, अथवा किसी बड़े राज्य की नींव डालने में भी समर्थ हो सकता है। यह कैसा चमत्कार? मात्र नव मास में होने वाला यह स्थित्यन्तर यदि हमने प्रत्यक्ष न देखा होता, और किसीसे सिर्फ उसका हाल ही सुना होता, तो निश्चय ही हम उसपर हर्गिज़ विश्वास न करते, उलटे उसकी हँसी उड़ाते। पर आज तो हमें यह प्रत्यक्ष दीख रहा है; एक अत्यन्त सूक्ष्म कोश से मात्र नव मास में होने वाली

इस विलक्षण वृद्धि या स्थित्यन्तर को आज तो हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं। तब यदि यह कहा जाय कि विकासवाद के अनुसार इसी प्रकार का स्थित्यन्तर—यद्यपि बहुत धीरे-धीरे—होते हुए अनेक या लाखों वर्षों के बाद एक प्रकार के प्राणी अथवा वनस्पति से उससे भिन्न प्रकार के प्राणी अथवा वनस्पति उत्पन्न होते हैं, तो उसमें असम्भव क्या ?

फिर यह तो गर्भशास्त्र-सम्बन्धी सिर्फ़ ऊपरी विचार हुआ। परन्तु ऊपर कही हुई अथवा चित्र में प्रदर्शित गर्भ की प्रथमावस्था और पैदा होने से ठीक पहले की पूर्णावस्था के बीच उसे किन-किन स्थितियों से गुज़रना पड़ता है इसे भी जब हम देखें तब तो विकासवाद की सच्चाई में ज़रा भी सन्देह या आशङ्का रह ही नहीं सकती।

अब ध्यान देने की बात यह है कि इस बीज-रूपी प्रथमावस्था से आगे गर्भ की जो वृद्धि होती है, साधारण-दृष्ट्या, वास्तव में वह होनी तो इस तरह चाहिए कि क्रमशः मूल में वृद्धि होते हुए उसमें भाँति-भाँति के अवयव प्रकट होते जायँ और अन्त में उस प्राणी के आकार एवं रंग-रूप भी उसमें आजायँ; परन्तु इसके विपरीत इस सर्वथा सरल और सीधे-सादे मार्ग को छोड़-कर उन प्राणियों के गर्भ की वृद्धि होती है कुछ निराले ही तौर पर। उदाहरण के लिए मनुष्य ही को लीजिए। उसकी गर्भा-

वस्था की वृद्धि वास्तव में होनी तो उपर्युक्त सरलरीति ही से चाहिए; पर प्रत्यक्ष में हम क्या पाते हैं ? सबसे पहले तो देव-मछली की भाँति उसमें कल्ले व कल्लों के अंकुर (Gillslits and Gillarches) निकलते हैं; फिर पीठ के सिरे पर पूँछ के समान एक भाग (रीढ़ की हड्डी) निकलता है, जा उस समय के छोटे शरीर से भी लम्बा होता है और फिर गर्भ के सारे भागों में ऊपर से नीचे तक रोम-ही-रोम हो जाते हैं।

इस प्रकार गर्भावस्था में मनुष्य का एक के बाद एक स्थित्यन्तर होता जाता है। उसमें वह एक समय तो मछली-सरीखा दीखता है, फिर कुछ समय बाद बन्दर की गर्भान्तर्गत स्थिति से उसमें कुछ विशेष भेद नहीं रहता, और इन सब अवस्थाओं को पार कर लेने पर अखीर में निश्चित रूप से उसे मनुष्यत्व प्राप्त हो जाता है। अन्य प्राणियों को देखें तो उनकी गर्भावस्था में भी आरम्भ ही से इसी प्रकार स्थित्यन्तर होते रहते हैं। उदाहरण के लिए मेण्डक को लीजिए तो उसमें भी हमें यही क्रम दृष्टि-गोचर होगा। उसकी भी गर्भावस्था का आरम्भ एक अत्यन्त सूक्ष्म गर्भकोश से ही होता है। तदुपरान्त, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, वह भी एक कोश से क्रमशः दो, चार, आठ इत्यादि कोश होते हुए अखीर में एक कोश पिण्ड ही बन जाता है। फिर जैसे-जैसे गर्भ की वृद्धि होती जाती है उसमें भी मनुष्य के गर्भ

चित्र नं० ७
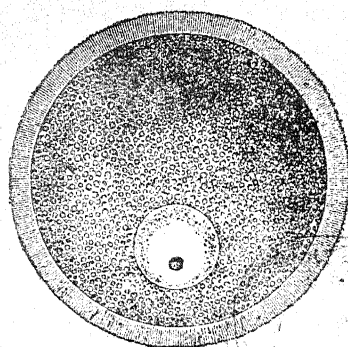
मनुष्य का गर्भकोश

चित्र नं० ८
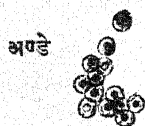
पूर्णावस्था को प्राप्त होने से पहले के मेण्डकों के स्थित्यन्तर

चित्र नं० ९
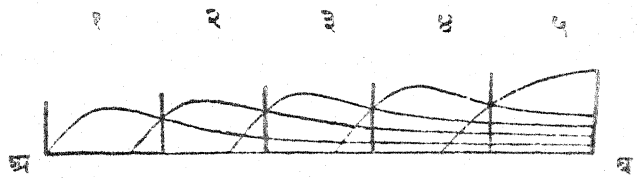
प्राचीन काल —————— अर्वाचीन काल

(१) शंखोत्पादक (२) सरीसृप (३) मत्स्य (४) सस्तन (५) मनुष्य

चित्र नं० १०

तृतीयावस्था		सस्तन प्राणी
द्वितीयावस्था		सरीसृप, पक्षी और पुष्पदार वनस्पति
प्रथमावस्था		नीचे दर्जे के प्राणी
प्राक्तनिक		कुछ नहीं

विकास का चित्रपट

की ही भाँति पहले-पहल मछली-सरीखे कल्ले व कल्लों के अंकुर निकलते हैं—यही नहीं किन्तु उस समय तो उस गर्भ में बिलकुल मछली के समान ही श्वासोच्छ्वास के कार्य में भी इनका उपयोग होता है और वह गर्भ भी हूबहू एक छोटी मछली जैसा ही दिखाई पड़ता है। कइयों ने ताल-तलैयों में मछली जैसे ऐसे मेण्ढक देखे भी होंगे। अंग्रेजी में इन्हें 'टेडपोल' (Tadpole) कहा जाता है। अस्तु। इसके बाद धीरे-धीरे उनके ये कल्ले और उनके अंकुर गलने आरम्भ हो जाते हैं, तथा आगे-पीछे के पैर निकलने लगते हैं, और अन्त में वे साफ़ मेण्ढक-से दीखने लग जाते हैं, यद्यपि पूँछ तो फिर भी बहुत समय तक बनी ही रहती है और बिलकुल आख़ीर में ही नष्ट होती है। पाठकों की जानकारी के लिए एक के बाद एक इस प्रकार होने वाला यह स्थित्यन्तर चित्र नं० ८ में बताया गया है।

अब प्रश्न यह उठता है कि पहले बताये हुए सरल मार्ग को छोड़कर इस टेढ़े-मेढ़े मार्ग से गर्भ के अग्रसर होने का क्या कोई विशिष्ट प्रयोजन है? इन सब गर्भों की वृद्धि में आगे पैदा होने वाले प्राणियों की दृष्टि से निरुपयोगी भाग उत्पन्न करने में बहुत-सा समय और अत्यधिक परिश्रम व्यर्थ ही व्यय करने में उस गर्भ का भला कौन-सा प्रयोजन होगा? भला कहिए तो कि किस

प्रकार से इन सब बातों की उपपत्ति लगाई जाय कि जिससे हमारा समाधान हो सके ?

यदि समाधानकारक रीति से इस प्रश्न का उत्तर देना हो तो हमें फिर से आनुवंशिक (वंशगत) संस्कारों पर ही जाना होगा। उसपर से इसका जो उत्तर निकलेगा वह यही कि जिस-जिस स्थिति से अपनी गर्भावस्था में किसी प्राणी को गुजरना पड़ता है वह-वह स्थिति उसके पूर्वजों द्वारा भोगी हुई ही होनी चाहिए—अर्थात् वे भी एक के बाद एक इस प्रकार क्रम-क्रम से उन स्थितियों में से गुजर चुके होंगे। संक्षेप में कहें तो, किसी प्राणी की गर्भावस्था में होने वाली वृद्धि मानों उस प्राणी के क्रम-विकास का एक छोटा-सा चित्रपट ही है। क्योंकि विकासवाद की मूल-कल्पना भी तो यही है कि एक तरह के प्राणी से क्रम-क्रम से होते हुए दूसरी तरह के प्राणियों की उत्पत्ति होती है और इस परिवर्त्तन या फेर-बदल के कारण होते हैं उनके अनुवंशिक संस्कार तथा व्यक्ति-व्यक्ति में रहने वाली पारस्परिक भिन्नता। इसीलिए पहले जिस-जिस स्थिति में किसी प्राणी के पूर्वज रहे होंगे उस-उस स्थिति के थोड़े-बहुत संस्कार स्थायी तौरपर उसमें रहना स्वाभाविक ही है। और इसीलिए जिस कारण से कि गर्भ को इन विभिन्न स्थितियों से गुजरना पड़ता है उसके लिए हमें यही कहना पड़ेगा कि उस-उस स्थिति को उसके पूर्वज भी जरूर

भुगत चुके होंगे। इसी बात को ज़रा आलङ्कारिक भाषा में कहें, तो ऐसा कह सकते हैं कि, मानों प्राणियों को अपनी गर्भावस्था में अपने पूर्वजों की स्मृति होती रहती है !

विकास-सम्बन्धी और भी प्रमाणों की ज़रूरत हो तो प्राच्य-प्राणि-शास्त्र (Palaeontology) में देखिए, जो भूगर्भशास्त्र का ही एक भाग-विशेष है। भिन्न-भिन्न स्थानों पर भूमि अथवा चट्टानों की नीचे तक खुदाई करने पर उनमें से प्राणियों अथवा वनस्पतियों के जो अस्थिपंजर (ठठरियाँ) मिलते हैं, उनका मनोयोगपूर्ण तुलनात्मक अध्ययन ही इस शास्त्र का कार्य है। वास्तव में देखा जाय तो ये अस्थिपंजर अनेक प्राणियों की प्रत्यक्ष ठठरियाँ न होकर उनके केवल अवशेष या ढाँचे ही होते हैं। फ़र्ज़ कीजिए कि कोई प्राणी पृथ्वी के किसी ऐसे भागपर मरकर धराशायी होता है, जो न बहुत सख़्त है और न बहुत नरम ही (जैसे चिकनी मिट्टी या सफ़ेद मिट्टी)। उस दशा में कुछ कालोपरान्त अवश्य ही उसका शरीर सड़ जायगा और केवल ढाँचा (अस्थिपंजर) शेष रह जायगा; यही नहीं किन्तु बाद में नीचे की ज़मीन पर ठीक उस ढाँचे के समान ही निशान पड़ जायगा। इसके बाद कुछ कालोपरान्त आस-पास की ज़मीन के दबाव अथवा अन्य किसी कारण से जब वह ज़मीन दब जायगी, नीचे को धँस जायगी, तो उसीका उस प्राणी की शक्ल का ढाँचा बन

जायगा; और पानी व हवा का संसर्ग न होने पर तो वह उसी जगह स्थायी रूप से ज्यों-का-त्यों ही जम जायगा। ऐसी दशा में आस-पास की ज़मीन खोदते हुए यदि कोई मनुष्य वहाँ तक जा पहुँचे तो, हज़ारों लाखों वर्ष बीत जाने पर भी, उसे तो वह ढाँचा ज्यों-का-त्योंही मिलेगा। ज़मीन के अन्दर पाये जाने वाले इन ढाँचों को अंग्रेज़ी में 'फ़ासिल' (Fosil) कहा जाता है, और प्राच्य-प्राणि-शास्त्र में इन्हींका मनोयोगपूर्वक संग्रह करके सूक्ष्मता के साथ इनका अध्ययन किया जाता है।

कल्पना कीजिए कि हम किसी जगह से ज़मीन के एक बहुत बड़े भाग को गहरे से गहरा खोदने लगें। जैसे-जैसे हम उसे खोदते जायँगे, मिट्टी-पत्थरों की भिन्न-भिन्न तहें उसके अन्दर से निकलती जायँगी (जैसे कहीं चिकनी मिट्टी, कहीं सफ़ेद मिट्टी, कहीं मुरम और कहीं काली चट्टान आदि)। इन भिन्न-भिन्न तहों में मिलने वाले ढाँचों का यदि हम ध्यानपूर्वक संग्रह करें तो उसपर से सामान्यतः हमें यही कहना पड़ेगा कि जिस तह में जो ढाँचे मिलते हैं वही तह उस समय पृथ्वी के ऊपर रही होगी और जिन प्राणियों के वे ढाँचे हैं वही उस समय इस पृथ्वी पर निवास करते होंगे। अर्थात् अ भाग में जो ढाँचे मिलते हैं उनसे यह पता चलता है कि उस समय यही तह पृथ्वी पर रही होगी और जिनके कि ये ढाँचे हैं वही प्राणी उस समय इसपर

निवास करते होंगे। इसी प्रकार ब भाग में जिन प्राणियों के ढाँचे मिलते हैं वे उस समय इसपर रहे होंगे, जब कि यह (ब) भाग पृथ्वी पर होगा। इस प्रकार इन सब अस्थिपंजरों या ढाँचों को हमें सामान्यतः उस-उस भाग के अनुसार ही मानना पड़ेगा।

अब रहा यह कि ये प्राणी किस-किस समय में पृथ्वी पर रहते थे ? इस बात का जवाब हम ऊपर दे ही चुके हैं कि जब-जब जिन प्राणियों के ढाँचों वाली तह पृथ्वी पर रही होगी तब-तब वे प्राणी इसपर निवास करते रहे होंगे। अब प्रश्न यह उठता है कि वह तह पृथ्वी पर रही किस-किस समय होगी ? पर मोटे तौर पर इसका निश्चय करना भी कोई बहुत कठिन नहीं। भूगर्भ-शास्त्र के द्वारा यह तो हमें मालूम ही है कि पृथ्वी का पृष्ठभाग कैसे बनता गया। अर्थात् जैसा कि पहले कहा जा चुका है, बहुत पहले तो—अत्यन्त प्राचीन काल में—हमारी यह पृथ्वी अत्यन्त तप्त एवं वायुमय थी; फिर जैसे-जैसे इसकी उष्णता में कमी होती गई, वैसे-वैसे यह कड़ी होती गई और इसकी तह (पृष्ठ भाग) जमने लगी; तदुपरान्त कुछ समय बाद उस बाष्प (भाफ) का पानी बनकर उससे समुद्र, महासागर, तालाव, नदी आदि का उद्भव हुआ। नदियों का बहाव बराबर समुद्र ही की ओर होने के कारण सालोंसाल उनके पानी के साथ जो तरह-तरह के

कङ्कर-पत्थर और रेत-धूल आदि समुद्र में पहुँचे, सतह में पहुँच-कर उनकी भी तह पर तह जमती और उसके ऊपर पानी के दबाव से सख्त पड़ती गई। फिर एक दो नहीं किन्तु लाखों वर्षों तक बराबर यही क्रम रहा है।

इस पर से मोटे तौर पर खासकर यह तो हमें कहना ही पड़ेगा कि पृथ्वी का ब भाग जो अ भाग से नीचे है, उससे यही निष्कर्ष निकलता है कि ब भाग जब पृथ्वी पर रहा होगा वह समय अवश्य उससे पहले ही होना चाहिए, जब कि अ भाग पृथ्वी पर रहा हो। इसी प्रकार क भाग ब से भी पहले का होना चाहिए। अर्थात् हम जैसे जैसे गहरे जाते जायँ, अधिक-से-अधिक प्राचीन टापू (तह) हमें मिलते जायँगे; और इस सामान्य विचार-शैली के अनुसार हमें खास तौरपर यह कहना होगा कि ड भाग में मिलने वाले ढाँचों के प्राणी क भाग के 'ढाँचों' के प्राणियों की अपेक्षा पहले के—अधिक प्राचीन—होने चाहिएँ; और इसीलिए क भाग के प्राणी ही ब भाग के प्राणियों से पहले पृथ्वी पर रहते थे। इसमें शक नहीं कि इन भिन्न-भिन्न तहों (टापुओं) का काल निश्चित है बल्कि इनका साधारण अनु-मान करना भी मुश्किल नहीं है; फिर भी भूगर्भ और पदार्थ शास्त्रों के आचार्यों ने बहुत से अंक एकत्र करके पृथ्वी के अन्दर मिलने वाली भिन्न-भिन्न तहों के न केवल भिन्न-भिन्न काल ही

निश्चय किये हैं, बल्कि उनके अस्तित्व के लिए भिन्न-भिन्न युगों की भी कल्पना कर ली है। परन्तु हमें उनसे मग़ज़पच्ची करने की ज़रूरत नहीं; हमारे लिए तो अभी केवल यही जान लेना काफी है कि प्राणी किस तह या टापू में पहले हुए और किसमें उसके बाद। और इसका पता उपर्युक्त ढाँचों को क्रमपूर्वक रखने पर सहज में ही लग जायगा। इस प्रकार जाना हुआ पुरानी प्राणि-सृष्टियों का यह क्रम जब विकासवाद के अनुक्रम से मिल गया तो फिर निश्चय ही यह विकासवाद की सत्यता का ही स्वतंत्र और विश्वसनीय प्रमाण न हो गया ?

विकासवाद के अनुसार, जिन प्राणियों को आज हम इस पृथ्वी पर देखते हैं, सृष्टि के आरम्भ से ही उन सबका यहाँ अस्तित्व न था। सृष्टि के आरम्भ में भी जब पहले-पहल इसमें प्राणियों की उत्पत्ति हुई, तो सबसे पहले तो बिलकुल सादे या छोटे जीवों (निम्न श्रेणी के प्राणियों) का ही उद्भव हुआ, पश्चात उनमें थोड़ा-बहुत फेर-बदल होते हुए उनसे कुछ बड़े प्राणी पैदा हुए और फिर इसी क्रमानुसार अनेक कालोपरान्त उस जीव-सृष्टि की उत्पत्ति हुई, जिसे कि आज हम देख रहे हैं।

उपर्युक्त ढाँचों या कोठरियों को जब हम ध्यान पूर्वक देखें तो उनमें भी हमें यही क्रम दिखाई पड़ता है। क्योंकि खोदते हुए हम जैसे-जैसे गहरे पहुँचते जाते हैं, वैसे-वैसे नीचे-ही-नीचे हमें

ऐसी चट्टानें (तहें या टापू) मिलती हैं कि जिनमें जीवों या प्राणियों का नाम-निशान भी नहीं मिलता। उससे ऊपर की तह में बिलकुल सादे अर्थात् अमीबा या उससे कुछ ऊँचे दर्जे के प्राणियों के अवशेष (ढाँचे) दृष्टिगोचर होते हैं। फिर जैसे-जैसे ऊपर आते जायँ, उनमें जो ढाँचे हमें मिलते जायँगे, उनके सम्बन्ध में हमें दो ऐसी बातें दृष्टिगोचर होती हैं, जो अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। पहली तो यह कि जैसे-जैसे हम ऊपर यानी अधिकाधिक अर्वाचीन तहों पर आते जाते हैं, वैसे-वैसे प्राणियों एवं वनस्पतियों की अधिक-से-अधिक विभिन्न जातियाँ या क़िस्में हमें मिलने लगती हैं—अर्थात्, जीव-सृष्टि की विचित्रता बढ़ती जाती है। दूसरी महत्व की बात यह है कि पहले के प्राचीन प्राणियों की अपेक्षा आजकल के यानी अर्वाचीन प्राणी अधिक ऊँचे दर्जे के अर्थात् अपेक्षाकृत बड़े होते हैं। नं० ९ वा १० में यह बात स्पष्टतया बताई गई है। चित्र नं० ९ में अब की जो सरल रेखा दी गई है, वह कालमापक है। अर्थात् उस रेखा पर जैसे-जैसे हम अ विन्दु से 'ब' विन्दु की ओर आने लगेंगे तैसे तैसे मानों अत्यन्त प्राचीनकाल से अर्वाचीन काल की ओर अग्रसर होते जायँगे। इसी प्रकार इस चित्र में जो भिन्न-भिन्न टेढ़ी रेखायें हैं वे उस-उस प्राणी की उत्पत्ति, प्राबल्य एवं लोप की निदर्शक हैं; और यह सब उस-उस वक्र रेखा की अ...ब वाली सरल रेखा पर ही न्यूना-

धिक ऊँचाई के साथ दिखाया गया है। इन दोनों चित्रों से हमें यह तो मालूम ही हो जायगा कि, प्राच्य प्राणी शास्त्र पर से यह सिद्ध होता है कि, रेंगने वाले प्राणी (शङ्खोत्पादक कीटाणु) मछलियों से पहले पैदा हुए, मछलियाँ सरकने वाले प्राणियों से पहले हुईं, तदनन्तर सस्तन (स्तनवाले) प्राणी हुए, और फिर सस्तन प्राणियों से सबके अन्त में मनुष्यों का अवतरण हुआ। इसी प्रकार प्राच्य-प्राणिशास्त्र से भी यही सिद्ध होता है कि सबसे पहले पानी की काई आदि बिलकुल सादा वनस्पतियों की उत्पत्ति हुई, जिनमें फूल-पत्ते आदि कुछ न थे। पश्चात् अन्य वनस्पतियाँ हुईं। और फिर अखीर में बड़, पीपल सरीखे बड़े-बड़े अर्थात् डाली, फल, फूलादि से सम्पन्न वृक्षों की उत्पत्ति हुई।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उपर्युक्त सब प्राणी एवं वनस्पति एक-दूसरे से अपेक्षाकृत ऊँचे दर्जे के अर्थात् बड़े हैं; और उनका यह अनुक्रम विकासवाद के अनुक्रम से बिलकुल मिलता-जुलता है। यही नहीं बल्कि प्राणियों का जो क्रम-विकास होता जाता है, वह भी इस सिद्धान्त के अनुसार तो बड़ा ठहर-ठहर कर अर्थात् धीरे-धीरे ही होता है। मतलब यह है कि एक तरह के प्राणी से जो दूसरे प्रकार का प्राणी होता है वह एकाएक न होकर उन दोनों अवस्थाओं के बीच की अनेक अवस्थाओं या स्थितियों में से गुजरता हुआ ही अन्त में उस दूसरी स्थिति को प्राप्त होता

है। इस पर से यह सिद्ध होता है कि इन दो स्थितियों के बीच रहने वाले प्राणी चाहे अब उपलब्ध न हों तथापि पहले किसी समय तो उनका अस्तित्व रहा ही होगा और इसलिए उनके कुछ-न-कुछ अवशेष अस्थिपंजर या ढाँचों के रूप में हमें ज़मीन के अन्दर मिलने ही चाहिएँ। इस प्रकार के अनेक अस्थिपंजर मिले भी हैं। उनका विस्तृत वर्णन तो आगे चलकर एक स्वतंत्र अध्याय में किया जायगा, मगर इतना तो अभी भी कहा जा सकता है कि प्राच्य-प्राणिशास्त्र और प्राच्य-वनस्पतिशास्त्र में जो बातें मिलती हैं, उनसे विकासवाद की न केवल प्रबल पुष्टि ही होती है वरन् उन्हें इस सिद्धान्त की सत्यता का एक स्वतंत्र एवं सशक्त प्रमाण ही मानना होगा।

यही नहीं किन्तु इस पृथ्वी पर होने वाले भिन्न-भिन्न प्राणियों एवं वनस्पतिओं के भौगोलिक विभाजन पर यदि बारीकी के साथ ध्यान दिया जाय तो हमें विकासवाद के आखिरी प्रमाण का भी पता लग सकता है। यह तो हमें मालूम ही है कि भिन्न-भिन्न देशों में प्राणी एवं वनस्पति भी भिन्न भिन्न ही होते हैं। इंग्लैण्ड में जो फल-फूलों के वृक्ष अथवा प्राणी मिलते हैं, न्यूज़ीलैण्ड, आस्ट्रेलिया या हिन्दुस्तान में मिलने वाले फल-फूलों के वृक्ष अथवा प्राणी उनके भिन्न प्रकार के होते हैं। अर्थात् कुछ वनस्पति अथवा प्राणी किन्हीं दो या अनेक देशों में एक-से ही मिलते भी हैं, तो

भी वहाँ कुछ प्राणी एवं वनस्पति ऐसे भी होते हैं जो सिर्फ़ किसी एक ही देश में पाये जाते हैं। और न केवल देशों में बल्कि किसी देश के विभिन्न प्रान्तों में भी हमें यह भिन्नता तो मिलती ही है। जैसे आम के दरख़्त, हाथी और सिंह भारत में तो मिलते हैं, पर इंगलैण्ड में नहीं मिलते। और 'हिपापाटिमस' अथवा जलहस्ती एवं काँगरू सरीखे जानवर तो इंग्लैण्ड क्या भारत में भी नहीं होते; परन्तु आस्ट्रेलिया और आफ्रिका में पाये जाते हैं। आलू आजकल हिन्दुस्तान में होने लगे हैं सही, पर पहले यहाँ उनका अस्तित्व नहीं था, और अब भी यहाँ का जल-वायु उनके लिए कुछ बहुत अनुकूल एवं उपयुक्त नहीं है। इसी प्रकार कोंकण में जो वनस्पतियाँ मिलती हैं, वे सभी देशों के अन्य सब भागों में भी नहीं होतीं; न देश के अन्य भागों में मिलने वाली सब वनस्पतियाँ ही कोंकण में होती हैं। सारांश यह कि इस भूतल पर जो भिन्न-भिन्न प्रदेश या देश हैं उनमें हरएक में थोड़े-बहुत वनस्पति, प्राणी अथवा उनकी विशिष्ट जातियाँ ऐसी होती ही हैं, जो उससे भिन्न और किसी जगह नहीं पाई जातीं।

इसी का ज़रा सूक्ष्म निरीक्षण किया जाय तो मालूम होगा कि किन्हीं दो प्रदेशों या देशों का अन्तर जैसे-जैसे बढ़ता जाता है, एक प्रदेश या देश में मिलने वाले वनस्पति या प्राणियों की

समानता भी दूसरे प्रदेश या देश में पाये जाने वाले वनस्पति या प्राणियों से उसी अनुसार कम होती जाती है। उदाहरण के लिए ठेठ उत्तर-काश्मीर के वनस्पति अथवा प्राणी की तुलना यदि ठेठ दक्षिण-कन्याकुमारी के वनस्पति अथवा प्राणियों से की जाय तो उन दोनों में बड़ा फ़र्क़ दिखाई पड़ेगा। परन्तु अब हम जैसे-जैसे उसके नज़दीक पहुँचते जायँ वैसे-वैसे वह फ़र्क़ भी कम पड़ता जाता है और अन्त में बिलकुल पास-पास बसे हुए प्रान्तों में तो वनस्पति एवं प्राणी एक-दूसरे के लगभग बिलकुल समान ही मिलेंगे। जो द्वीप (भूभाग) पृथ्वी के दूसरे सब खण्डों से बिलकुल अलग हैं उनकी जीव-सृष्टि पर विचार करने पर उपर्युक्त विधान की सत्यता भलीभाँति विदित हो जाती है। सेण्ट हेलेना, सेण्डविच आदि द्वीप इस प्रकार के हैं भी। इनके आस-पास चारों ओर ६–७ सौ मील तक विस्तृत समुद्र फैला हुआ है, जिससे कि शेष संसार से इनका सम्बन्ध क़रीब-क़रीब टूटा हुआ ही है। इनमें जो वनस्पति या प्राणी होते हैं, उन्हें यदि हम देखें तो उनमें कुछ तो ऐसे हैं जो केवल वहीं होते हैं—अर्थात् और कहीं उनका अस्तित्व नहीं मिलता। उदाहरण के लिए सेण्डविच-द्वीप में पक्षी और सरकने वाले प्राणी मिलाकर कुल अठारह (१८) प्रकार के प्राणी हैं; पर उनमें से किसी एक प्रकार का भी प्राणी और कहीं नहीं मिलता। यही हाल सेण्टहेलेना का है। यहाँ के वनस्प-

तियों में दो सौ तैंतालीस (२४३) प्रकार के वनस्पति तो ऐसे हैं, जो अन्यत्र भी मिल जाते हैं; पर तीन सौ सतहत्तर (३७७) प्रकार के तो सिवाय यहाँ के और कहीं नहीं पाये जाते। इंग्लैण्ड, स्काटलैण्ड और वेल्स द्वीप भी हैं तो यूरोप खण्ड से जुदे ही; मगर उनका अन्तर उस अन्तर की अपेक्षा कम है, जो उक्त स्थानों का उससे है। इसीसे इंग्लैण्ड के अनेक वनस्पति एवं प्राणी यूरोप के अन्य भागों में भी मिल जाते हैं। उनकी संख्या लगभग डेढ़ हजार है; परन्तु इतने पर भी ४६ प्रकार के वनस्पति तो इंग्लैण्ड में भी ऐसे हैं ही कि जो और कहीं न होकर सिर्फ़ वहीं मिलते हैं!

ये तथा और भी कुछ बातें ऐसी हैं, कि सिवाय विकासवाद के और किसी रीति से उनकी उपपत्ति का स्पष्टीकरण नहीं होता। क्योंकि यदि यह माना जाय कि इन सब जातियों या क़िस्मों को सृष्टि के आरम्भ में ईश्वर ने स्वतंत्र-रूप से पृथक्-पृथक् ही निर्माण किया; तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि फिर ऐसा पंक्तिभेद क्यों किया गया कि कुछ जातियाँ तो सिर्फ़ एक ही जगह हों और कुछ सिर्फ़ किसी दूसरी जगह ? इसके जवाब में, कदाचित् यह कहा जाय कि आम के दरख़्त इंग्लैण्ड में न होने का कारण वहाँ की वायु का अत्यन्त ठण्डा होना है, जिससे कि वहाँ आम का होना सम्भव ही नहीं, और भिन्न-भिन्न स्थानों से भिन्न-भिन्न

प्रकार के प्राणी एवं वनस्पति मिलने का कारण वहाँ-वहाँ की परिस्थितियों में रहने वाला अन्तर ही होगा। यह कहना है भी सर्वथा युक्ति-युक्त। परन्तु यह भी तो खयाल रखना चाहिए कि इसके साथ ही कितने देश ऐसे भी तो हैं कि वहाँ का जल-वायु आदि अनेक वनस्पति एवं प्राणियों के सर्वथा उपयुक्त है, तथापि उन-उन सब देशों में वे सभी प्राणी एवं वनस्पति कहाँ मिलते हैं? उदाहरण के लिए आस्ट्रेलिया आदि उन भागों ही को लीजिए जिनका कि अभी हाल पता लगा है। पहले इनमें उन अनेक प्राणियों एवं वनस्पतियों का अस्तित्व कहाँ था, जो कि यूरोप में होते हैं? परन्तु वहाँ जाकर बसने वाले जब यूरोप से उन्हें वहाँ ले गये तब तो वहाँ उनकी उत्पत्ति और वृद्धि बड़ी अच्छी तरह हुई न? इससे सहज ही यह मालूम होता है कि पहले चाहे वहाँ उनका अस्तित्व न था, पर वहाँ का जल-वायु आदि उन प्राणियों के लिए सर्वथा उपयुक्त था। अतः प्रश्न यह उठता है कि, ऐसी दशा में इन देशों में वे प्राणी पैदा क्यों न हुए? लेकिन उपर्युक्त विचारशैली के भरोसे रहे तब तो न तो इस प्रश्नका उत्तर मिल सकता है, और न आगे दी हुई कुछ अन्य बातों की उपपत्ति ही लग सकती है।

विपरीत इसके, विकासवाद को लें तो, विकासवादियों के मतानुसार तो यह सब क्रमशः ही होता है। विकासवाद के अनुसार

तो ये सब जातियाँ या क़िस्में मूल में किसी एक या कुछ थोड़ी-सी जातियों ही से क्रम-क्रम से उत्पन्न हुई हैं। प्रारम्भ में कहीं-न-कहीं यह मूल जाति अथवा थोड़ी-सी जातियाँ पैदा हुई और फिर कालान्तर में जैसे-जैसे इनसे उत्पन्न प्राणियों की संख्या बढ़ने लगी वैसे-वैसे वे चारों ओर फैलने भी लगे। फिर वे जितने जितने दूर पहुँचते गये वैसे-वैसे उनकी नई-नई परिस्थितियाँ भी पूर्व-परिस्थितियों से भिन्न होती गईं। तब जैसा कि स्वाभाविक और आवश्यक था, इसके कारण उस-उस नई परिस्थिति का मुक़ाबला करने-योग्य परिवर्तन भी उनमें शुरू हुए। अर्थात् उनका विकास मूलस्थान में रहने वाले उनके पूर्वजों के विकास से भिन्न होता गया और अनेक शताब्दियाँ बीत जाने पर उस समय के प्राणियों की भी भिन्न-भिन्न जातियाँ हो गईं। इनमें भी जो प्राणी जितने ज्यादा दूर पहुँचे, उनमें, पहले के मूलस्थान पर रहने वाले प्राणियों से, उतना ही ज्यादा फ़र्क़ हो गया। इसका एक कारण तो ऊपर बताया ही जा चुका है, कि जैसे-जैसे हम अधिकाधिक दूर जाते हैं वैसे-वैसे हमारी परिस्थिति में भी अन्तर होता जाता है। दूसरा कारण इसका यह है कि दो प्राणियों में बहुत अन्तर हो जाने पर एक-दूसरे से रहने वाला उनका (पारस्परिक) सम्बन्ध टूट जाता है। क्योंकि यदि हम इस कल्पना को मानें कि परिस्थिति में परिवर्त्तन होकर उसके कारण प्राणियों

में भी कुछ फेर-बदल हुआ, तो फिर यही फेर-बदल स्थायी रहने के लिए वर्णसंकर नहीं होने चाहिएँ, अन्यथा दोनों जातियाँ सर्वथा समान ही न हो जातीं ! अतएव जैसे-जैसे अन्तर बढ़ता जाता है, वर्णसंकर होने की यह सम्भावना भी उसी के अनुसार कम होती जाती है। इसीलिए इस कारण से भी जैसे-जैसे किन्हीं दो भागों का अन्तर बढ़ता जाता है वैसे-वैसे उनमें रहने वाले प्राणियों एवं वनस्पतियों की भिन्नता (अन्तर) में भी वृद्धि होती जाती है। ऐसे समय अकस्मात् कोई भाग यदि शेष समस्त भागों से, भूकम्प द्वारा, सर्वथा पृथक् हो जाय (और अनेक द्वीपों के इस प्रकार पृथक्-पृथक् हो जाने के प्रमाण भूगर्भशास्त्र में बहुत-से मिलते भी हैं), अर्थात् उसका एक स्वतंत्र द्वीप बन जाय, तो शेष भागों से रहने वाला उसका सारा सम्बन्ध सर्वथा नष्ट हो जायगा। और फिर शेष भागों के प्राणियों के वहाँ आने की सम्भावना बिलकुल न रहने के कारण वर्णसंकर होने का भय भी वहाँ बिलकुल न रहेगा। तब इसके बाद बहुत समय तक उस द्वीप पर मिलने वाले प्राणी एवं वनस्पति शेष प्राणियों एवं वनस्पतियों से सर्वथा भिन्न ही होंगे।

सेण्डविच और सेण्टहेलेना में ऐसे ही कुछ प्रकार पाये जाते हैं, यह हम पहले देख ही चुके हैं। परन्तु साथ ही हम यह भी कह चुके हैं कि इन द्वीपों में भी कुछ वनस्पति तो—लगभग

एक-तिहाई—भूमण्डल के अन्य वनस्पतियों ही के समान हैं। इसपर यह शंका उठ सकती है कि हमने जो विचारशैली ग्रहण की है, वह शायद ठीक नहीं है। परन्तु इसी बात पर ज़रा अधिक विचार किया जाय तो मालूम पड़ जायगा कि इस अपवाद से तो उलटे हमारी उपपत्ति की और पुष्टि ही होती है। क्योंकि, जैसा कि पहले हम कह चुके हैं, संसार से इन द्वीपों का सम्बन्ध बिलकुल टूट जाने पर भी असल में ज़रा-बहुत सम्बन्ध तो बना ही रहता है। कारण कि पृथ्वीवासी प्राणी यद्यपि इतर प्रदेशों में इतनी दूर तक नहीं जा सके, तो भी अन्य अनेक साधनों के योग से दूसरे प्राणी एवं वनस्पति तो एक जगह से दूसरी जगह दूर-दूर तक पहुँच ही सकते हैं। जैसे कुछ पक्षी या परिन्दे ऐसे हैं, जो चार-पाँच सौ मीलों का प्रवास तो सहज ही कर सकते हैं। यही नहीं, कभी-कभी किसी बड़े तूफ़ान या झंझावात में पड़ जाने पर तो वे इससे भी कहीं ज्यादा दूर तक चले जाते हैं। कितनी दूर तक वे जा सकते हैं, इस सम्बन्ध में अबतक अनेक प्रयोग भी किये जा चुके हैं। इसके लिए कुछ पक्षियों के शरीरों पर चिह्न करके उन्हें छोड़ दिया जाता है, जिससे फिर जहाँ वे पाये जायँ, उन चिह्नों के सहारे, उन्हें पहचान लिया जाता है। यूरोप से छोड़े हुए ऐसे कुछ पक्षी आफ्रिका तक पहुँच भी चुके हैं। इसपर से यह स्पष्ट है कि पक्षी हज़ारों मील दूर तक जा सकते हैं।

फिर समुद्र में पड़ी हुई लकड़ियाँ तो बहाव के साथ बहती हुई सदा ही ऐसे द्वीपों के किनारे जा लगती हैं। इन लकड़ियों पर अनेक छोटे-छोटे प्राणियों के अण्डे एवं वनस्पतियों के बीज भी रहते ही हैं, जो इस प्रकार अपने आपही उन द्वीपों पर जा पहुँचते और फिर बढ़ने लगते हैं। इसी प्रकार पक्षी जिन फलों को खाते हैं उनके बीज पेटों में पहुँचकर, उनके उड़ते समय, गुदा-द्वारा मल के साथ नीचे की जमीन पर गिरते हैं। यही नहीं, वरन् उनके पाँव और परों से चिपट कर भी नाना प्रकार के बीज वहाँ पहुँच सकते हैं। कुछ वृक्षों के बीजों की योजना तो कुदरती तौरपर ऐसी की हुई होती है कि जिससे वे तुरन्त ही पक्षियों के परों से चिपट जाते हैं। फिर कुछ बीजों में पङ्ख सरीखे बिलकुल जरा-जरा से छुलके भी होते हैं, जिससे कि अवसर आने पर हजारों मील-पर्यन्त हवा के साथ जाकर वे सहज ही वहाँ पहुँच सकते हैं। यही नहीं, वरन् कभी-कभी तो शीतप्रदेशों के बड़े-बड़े बर्फीले पहाड़ भी एक देश से दूसरे देश में जा पहुँचते हैं और तब उनके साथ-साथ अनेक विभिन्न प्राणी एवं वनस्पति भी इधर से उधर, एक जगह से दूसरी जगह, पहुँच जाते हैं। मतलब यह कि कोई द्वीप या भूभाग पृथ्वी के अन्य सब भागों से हजारों मीलों की दूरी पर क्यों न हो फिर भी छोटे-छोटे प्राणी, वनस्पति, कीड़े-मकोड़े (कीटाणु) और पक्षी सहज

ही वहाँ पहुँच सकते हैं। प्रवाह के साथ अथवा उपर्युक्त अन्य साधनों के द्वारा वनस्पतियों का विस्तार कितनी शीघ्रता और अधिकता से हो जाता है, डार्विन ने इसका एक उदाहरण भी दिया है। उसने उपर्युक्त प्रकार के भूभाग के गड्ढे में से एक छोटा बर्त्तन-भर मिट्टी ली थी। इसमें उसे इतने बीज मिले कि उन सबको बोया गया तो कुछ ही दिनों में उनसे पाँच सौ सैंतीस (५३७) प्रकार की भिन्न-भिन्न वनस्पतियाँ पैदा हो गईं।

ऐसी दशा में यदि इस द्वीप के एक-तिहाई वनस्पति अन्य स्थानों पर भी मिलते हैं, तो इसमें आश्चर्य की क्या बात ? ऐसी दशा में तो, सामान्यतः यही कहा जायगा कि जो-जो प्राणी जितनी-जितनी दूर तक जा सकते होंगे उतनी-उतनी ही दूर तक वे फैले हुए मिलेंगे; और जो दूर तक नहीं जा सकते, वे एक ही स्थान पर बसे रहेंगे। उदाहरणार्थ, हम देखते हैं कि, पक्षी चूँकि उड़ना जानते और बड़े-बड़े समुद्र व पर्वतों तक को लाँघ जाते हैं, इसलिए उनमें से अनेक प्रायः सभी जगह मिल जाते हैं; इसके विपरीत जमीन पर रहने वाले प्राणी हैं, जो न तैरना जानते हैं और न उड़ना, अतः वे दूर-दूर तक फैले हुए कचित ही नजर आते हैं। ऊपर जिन द्वीपों का जिक्र आया है उनमें चतुष्पाद प्राणी (चौपाया) तो एक भी नहीं मिलता।

इस प्रकार विकासवाद के द्वारा उपर्युक्त सब बातों की उप-

पत्ति समाधानकारक रीति से लग जाती है, जब कि इसके विप-रीत पक्ष का जोड़ ठीक नहीं बैठता। अतएव इन सब बातों को यदि विकासवाद की सत्यता का स्वतंत्र प्रमाण ही माना जाय तो क्या हर्ज !
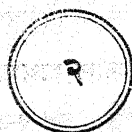
प्राकृतिक चुनाव

विकास के बारे में जो प्रमाण मिलते हैं, उन्हें हम पिछले अध्याय में देख चुके। भिन्न-भिन्न प्रकार से पाँच स्वतंत्र प्रमाण इसकी पुष्टि के लिए मिल सकते हैं। एक तो वर्गीकरण से, दूसरा तुलनात्मक दृष्टि से भिन्न-भिन्न प्राणियों की शरीर-रचना देखने पर अर्थात् शरीर-शास्त्र में, तीसरा गर्भ-शास्त्र में, चौथा प्राच्य-प्राणिशास्त्र एवं प्राच्य-वनस्पतिशास्त्र के अन्तर्गत, तथा पाँचवाँ और अन्तिम प्रमाण पृथ्वी पर पैदा हुए प्राणियों एवं वनस्पतियों के विभाजन से अथवा संक्षेप में कहें तो उनके भौगोलिक विभाजन से। इनमें से किसी भी प्रमाण को

लीजिए, उसीसे, विकास का होना सिद्ध होता है। तब इन पाँचों ही प्रकार के प्रमाणों पर एक साथ विचार करने पर तो इसकी सचाई में शङ्का की गुञ्जाइश रह ही कहाँ सकती है ?

परन्तु यहाँ तक तो हमने प्राणियों एवं वनस्पतियों का विकास होने-न-होने पर ही विचार किया और उसपर से उसका होना मानकर जिन-जिन प्रमाणों के आधार पर ऐसा माना गया, उनका भी वर्णन किया। किन्तु इसपर तो ख़ास तौर से कोई विचार ही नहीं किया कि यह जो विकास अथवा प्राणियों एवं वनस्पतियों में क्रमशः परिवर्त्तन होता है, वह क्यों अथवा किन कारणों से होता है ? तर्क-शास्त्र की दृष्टि से यह है भी ठीक। क्योंकि कोई बात कैसे हो गई इसका विचार करने से पहले यह निश्चय तो हो जाना चाहिए कि वास्तव में यह बात हुई भी। अतएव जब कि पिछले अध्याय में दिये हुए प्रमाणों द्वारा विकास का होना सिद्ध हो गया है तो अब हमें यह विचार करना चाहिए कि यह विकास हुआ कैसे ? वैसे इसका कुछ दिग्दर्शन तो पहले अध्याय में किया भी गया है; पर अब जरा विस्तार के साथ इसपर विचार किया जायगा।

परन्तु एक बात तो पहले ही बता देनी चाहिए। भिन्न-भिन्न प्राणिशास्त्रियों एवं वनस्पतिशास्त्रियों में इस सम्बन्ध में परस्पर बड़ा मतभेद है। लेमार्क, डार्विन, वालेस और मेण्डल तथा

चित्र नं० ११

जिराफ़
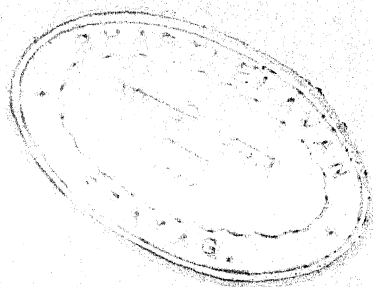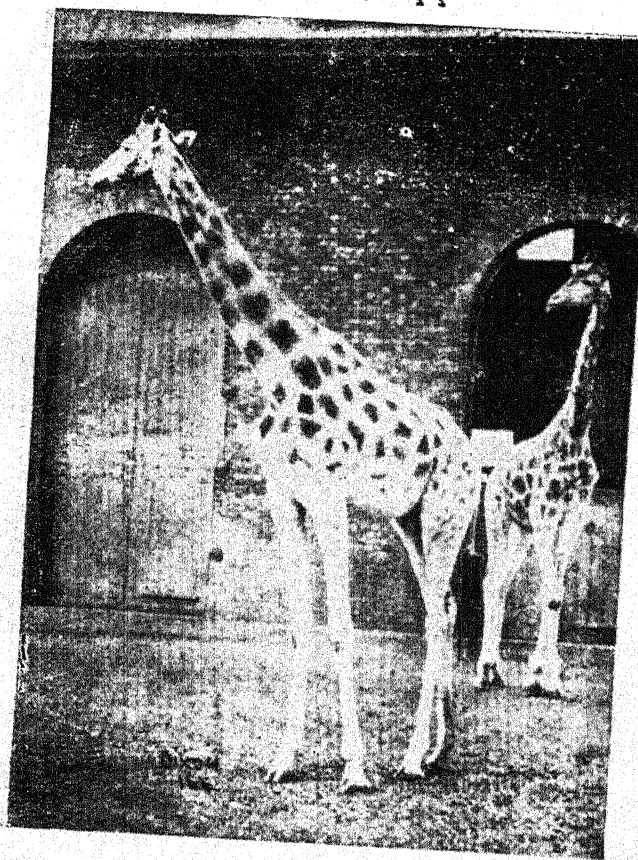
डीरीस—हरएक के जुदे-जुदे पंथ हैं। मगर तिसपर भी विकास-वाद की सचाई में कोई बाधा पड़ती हो सो बात नहीं; बल्कि आज तो, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, यह समस्त शास्त्रों में बद्धमूल हो गया है।

हाँ तो, विकास क्यों होता है?—भिन्न-भिन्न व्यक्तियों ने इसके कारण भी भिन्न-भिन्न ही बताये हैं। लेकिन यहाँ हम उनमें से ख़ास-ख़ास पर ही विचार करेंगे। सबसे पहले जिसने इसका कारण बताया, वह लेमार्क था; और जैसी उसकी विचारशैली थी, वह हम पहले अध्याय में देख चुके हैं। उसके मतानुसार एक अथवा अनेक अवयवों के लगातार उपयोग से उन अवयवों की वृद्धि होना ही विकास का प्रधान कारण है। 'जिराफ़' नाम के एक प्राणी (जानवर) का उदाहरण देकर, उसने इस कल्पना को स्पष्ट भी किया है (चित्र नं० ११) कम-से-कम तस्वीर में तो 'जिराफ़' को हममें से बहुतों ने देखा होगा। उसकी और शरीर-रचना तो लगभग घोड़े के शरीर जैसी ही है, पर उसकी गर्दन बड़ी लम्बी होती है। लेमार्क का कहना है कि 'जिराफ़' की गर्दन आज जितनी लम्बी होती है इससे पहले (उसके पूर्वजों के समय) वह ऐसी न होकर सिर्फ़ घोड़े जितनी ही लम्बी होती थी।❀ परन्तु बाद में किन्हीं कारणों से उनकी

❀ जिराफ़ की उत्पत्ति ओकापी (Okapi) नामक एक चौपाये से हुई

स्थिति में परिवर्त्तन हुआ। वे दरख्त के सिरे की नरम-नरम पत्तियाँ खाने लगे, अथवा कहिए कि किसी कारणवश उन्हें वे खानी पड़ीं; फलत: उन्हें अपनी गर्दन लम्बी करने की जरूरत पड़ी और तब, उस आवश्यकता के अनुसार, उस पीढ़ी में उनकी गर्दन कुछ लम्बी हुई। फिर तो जैसे-जैसे ऊँचे पत्ते खाने का प्रसङ्ग पड़ता गया, आनुवंशिकत्व के अनुसार, हर पीढ़ी में उनकी गर्दन पहली पीढ़ी वालों की अपेक्षा कुछ-कुछ बढ़ती ही गई। इस प्रकार प्रत्येक पीढ़ी के उपयोगानुसार बढ़ती हुई, हजारों-लाखों वर्षों के उपरान्त, अन्त में वह आज जितनी हुई। यही नहीं, बल्कि इसके साथ ही, लम्बी गर्दन को सम्हाल सकने की दृष्टि से, उनके शरीर की आकृति में भी थोड़ा-बहुत परिवर्त्तन हो गया। इसीपर से अन्य विभिन्न प्राणियों की उत्क्रान्ति की उपपत्ति भी लेमार्क ने इसी प्रकार मान ली। मतलब यह कि प्राणियों के शरीरों में जो परिवर्त्तन या फेर-बदल होता रहता है, लेमार्क के मतानुसार, वह सब उनकी हलचल (हिलने-डुलने) के ही अनुसार होता है; और पीढ़ी-दर-पीढ़ी कुछ-कुछ बढ़ते हुए अन्त में वह एक बिलकुल जुदे ही प्रकार के प्राणी का रूप धारण कर लेता है।

जान पड़ती है। यह पहले-पहल सन् १९०० में सर हेरी जॉन्स्टन को मध्य आफ्रिका में पाया था, जहाँ इससे पहले लाखों वर्षों से रहता रहा होगा।

इसमें शक नहीं कि किसी हद तक लेमार्क की यह उपपत्ति है भी ठीक, लेकिन सभी जगह यह लागू नहीं हो सकती। ज्यादा-से-ज्यादा उन प्राणियों एवं वनस्पतियों के विकास पर यह लागू हो सकती है, जो ऊँचे दर्जे के या बड़े हों। छोटे प्राणियों एवं वनस्पतियों में तो इच्छा और संचय (हलचल) का अंश बहुत ही कम होता है, जिससे उनके सम्बन्ध में तो ऐसे कारण दिये ही नहीं जा सकते। फिर इस बारे में भी तो बड़ा मतभेद है कि केवल संचय से उत्पन्न होने वाला फेर-बदल अगली पीढ़ी तक पहुँचता भी है या नहीं ? जर्मन तत्त्वज्ञानी वाइसमेन ने तो अनेक उदाहरणों द्वारा यह सिद्ध किया है कि ऐसा अन्तर अगली पीढ़ी तक क़ायम नहीं रहता। मगर विस्तार-भय के कारण इस प्रश्न को तो हमें यहीं छोड़ देना होगा। हमें तो सिर्फ़ यही मानकर आगे बढ़ना चाहिए कि लेमार्क ने विकास की जो उपपत्ति दी वह न तो समाधानकारक है और न उसकी व्यापकता ही सिद्ध होती है। अस्तु।

लेमार्क के बाद तो अनेक तत्त्वज्ञानियों का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ कि विकास के वास्तविक कारण क्या हैं ? डार्विन और वालेस ने एकही समय, सन् १८५८ में, स्वतंत्र रीति से उन कारणों को खोज भी निकाला और उन्हें 'प्राकृतिक चुनाव' का नाम दिया गया। तत्कालीन समाज का उनसे कहाँ तक

समाधान हुआ और उससे विकासवाद की कैसी विजय हुई, यह प्रथमाध्याय में बताया ही जा चुका है। इन्हीं कारणों को अब ज़रा विस्तार के साथ लीजिए।

यह तो प्रथमाध्याय में कहा ही जा चुका है कि प्राणियों की वंश वृद्धि बड़ी शीघ्रता से होती है, पर उसी परिमाण से अन्न की वृद्धि नहीं होती। अतः कालान्तर में एक समय ऐसा आ उपस्थित होता है, जब समस्त प्राणियों को अन्न पूरा नहीं पड़ता। उस समय, अन्न का काल पड़ने पर, स्वभावतः प्राणियों में उसके लिए लड़ाई-झगड़े शुरू होते हैं—अथवा, शास्त्रीय भाषा में कहें तो, प्राणियों में जीवन-कलह का आरम्भ होता है। जीवित रहने की इस स्पर्द्धा में कुछ प्राणी तो जिन्दा रहते हैं, शेष पर्याप्त अन्न के अभाव में भूखों मर जाते हैं। कौन तो मरते और कौन जिन्दा रहते हैं, इसका यदि ध्यानपूर्वक विचार किया जाय, तो मालूम होगा कि प्राणियों की किसी भी एक जाति में जो अनेक व्यक्ति होते हैं उनमें हरएक में एक-दूसरे से बहुत फ़र्क़ होता है। कोई सशक्त तो कोई अशक्त, कोई तेज़ तो कोई सुस्त, कोई धूर्त्त-चालाक तो कोई मूर्ख व सीधा-सादा, व्यक्ति-व्यक्ति में ऐसे भेद रहते ही हैं। अतः इस झड़प में निश्चय ही वही प्राणी जिन्दा बचते हैं जो अपेक्षाकृत अधिक सशक्त, तेज़ या धूर्त्त अथवा दूसरे शब्दों में कहें तो जिन्दगी के लिए अधिक उपयुक्त हों।

मानों न जाने क्यों सृष्टि-देवता अच्छे-अच्छे प्राणियों को खोज-कर उन्हीं को जिन्दा रखता और बाक़ी को नष्ट कर देता है ! फिर उसके बाद की पीढ़ी में पैदा होने वाले प्राणी उन चुने हुए प्राणियों के ही वंशज होने के कारण, आनुवंशिकत्व से, अपने माँ-बाप के समान ही होंगे। पश्चात् इस पीढ़ी में भी जीवन-कलह होकर पुनः उनमें से भी पहले ही के समान कुछ व्यक्ति जिन्दा रहेंगे और शेष मरेंगे। इस प्रकार प्रत्येक पीढ़ी में वही व्यक्ति जिन्दा बचेंगे, जो तत्कालीन परिस्थितियों का मुक़ाबला करने के लिए आवश्यक गुणों से सम्पन्न हों, और उनके संसर्ग से पीढ़ी दर-पीढ़ी उन गुणों का विकास अधिकाधिक ही होता जायगा। इसी बात को ज़रा आलङ्कारिक भाषा में कहें तो, मानों सृष्टिदेवता आँखों में सुरमा लगाकर प्राणियों पर नज़र जमाये ही बैठा है और उनका कोई गुण—फिर वह कितना ही सूक्ष्म या क्षुद्र क्यों न हो—ज़रा भी उसे दीखा नहीं कि तुरन्त ही वह उसे ढूँढ़ निकालता है और इस प्रकार सामयिक परिस्थिति के उप-युक्त प्राणी ही जिन्दा रक्खे जाते हैं ! यही कारण है कि पृथिवी की परिस्थिति (वायु, जल, तापमान आदि) में जैसे-जैसे परिव-र्त्तन हुआ, उसके अनुसार, प्राणियों में भी एकसाँ फेर-बदल होते हुए अन्त में वे अपने पूर्व-पुरुषों से बिलकुल ही भिन्न हो गये। कालान्तर में जो बिलकुल भिन्न और नयी ही एक जाति उत्पन्न

हो जाती है उसका कारण भी और कुछ नहीं, समय के साथ इस अन्तर का अत्यधिक हो जाना ही होता है।

विकास-सम्बन्धी यह उपपत्ति डार्विन ने सन् १८५८ में अपने 'जातियों का मूल' नामक ग्रन्थ में प्रकाशित की और इसे प्राकृतिक चुनाव का नाम दिया। परन्तु इसपर से पाठकों को यह भ्रम हो सकता है कि वस्तुतः किसी-न-किसी दैवीशक्ति के द्वारा ही यह सब होता है। लेकिन यह समझना ठीक नहीं और इस दृष्टि से यह नाम कुछ भ्रामक है, इसमें शक नहीं। वस्तुतः तो इसका मतलब यही है कि प्राणियों में फेर-बदल होते हुए उनका जो क्रम-विकास होता जाता है वह पृथ्वी पर की समस्त परिस्थिति के ही फलस्वरूप होता है और इसी परिस्थिति के समुच्चय को हम निसर्ग या प्रकृति कहते हैं।

डार्विन की उपर्युक्त उपपत्ति के सम्बन्ध में तीन-चार बातें खयाल रखने लायक़ हैं। पहली तो यह कि इसमें कल्पना का अंश बहुत थोड़ा है, जो बातें बिलकुल प्रत्यक्ष होतीं व रातदिन के अनुभव में आती हैं उन्हीं पर से डार्विन ने यह सब निर्णय किया है। जिन चार तत्त्वों के आधार पर डार्विन ने अपनी उपपत्ति का निश्चय किया उनपर दृष्टिपात करने पर तो यह बात सहज ही ध्यान में आ जायगी कि इसमें कल्पना का अंश कितना कम है।

डार्विन की उपपत्ति की आधारभूत पहली बात तो है कोई भी प्राणियों की होने वाली बेशुमार वंश-वृद्धि और उसके फल-स्वरूप उत्पन्न होने वाली जीवन की स्पर्द्धा या कलह। शुरुआत में यह बात बहुतों के ख़याल में नहीं आती। उन्हें तो यही जान पड़ता है कि संसार में जहाँ-तहाँ शान्ति ही शान्ति फैली हुई है। किसी निर्जन वन में अनेक प्रकार के प्राणियों को स्वच्छन्दता के साथ विचरते हुए देखकर और तरह-तरह के पक्षियों के मधुर राग सुनकर सहज ही ऐसा प्रतीत होता है कि मानों संसार के सारे प्राणी सुख-साम्राज्य में मग्न हैं। कवियों ने भी जगह-जगह ऐसा ही वर्णन किया हुआ है। परन्तु ऊपर-ऊपर ऐसा सुन्दर दीखने वाले दृश्य के दूसरी ओर कैसा भयङ्कर प्रकार चल रहा है, वह भी तो देखना चाहिए!

प्राणियों में सबसे कम वंश-वृद्धि हाथियों में होती बताते हैं। क्योंकि हथिनी की सौ वर्ष की दीर्घायु में साधारणतया सिर्फ़ तीन ही सन्तानें पैदा होती हैं। लेकिन इतने पर भी यह सिद्ध किया जा सकता है कि, अगर अन्न का अभाव न हो तो एक जोड़ी हाथी से सिर्फ़ साढ़े सात सौ वर्षों के अन्दर एक करोड़ नव्वे लाख (१,९०,००,०००) हाथी हो जायँगे। जब हाथी का यह हाल है तब फिर कुत्ते-सरीखे प्राणियों का तो कहना ही क्या—उनसे तो सिर्फ़ एकही शताब्दी में न जाने कितनी वंश-वृद्धि हो जायगी!

वनस्पति, जलचर प्राणी और कीड़े-मकोड़ों की वृद्धि तो इनसे भी अधिक शीघ्रता से होती है। मामूली मेंढक एक बार में दस हजार के क़रीब अण्डे देता है। मादा कॉडमक्खी के गर्भ में, प्रसव से पूर्व, लगभग नव्वे लाख अण्डे होते हैं। अगर ये सब अण्डे पक कर इनके मेंढक या कॉडमक्खी हों और उनकी वृद्धि इसी प्रकार होती चली जाय तो सिर्फ़ दस ही महीनों में सारी पृथिवी, समुद्र और महासागर इनसे ऐसे ठसाठस भर जायँगे कि हमें चलने-फिरने को ज़रा भी जगह बाक़ी न बचेगी। मामूली मक्खी एक बार में लगभग सौ डेढ़ सौ अण्डे देती है और अण्डे देने से क़रीब तेईस दिन के अन्दर उन अण्डों से पैदा होने वाली मक्खियाँ भी हर एक सौ-डेढ़ सौ अण्डे देने लगती हैं। इसपर से हिसाब लगाकर हावर्ड साहब ने बताया है कि केवल एक ही मक्खी से पाँच महीनों के अन्दर ५,५९,८७,००,००,००० मक्खियाँ होंगी। 'एफिड' (Aphid) दरख्त पर रहनेवाला जूँ के समान एक बारीक कीड़ा है। इसकी वंश-वृद्धि कितनी शीघ्रता से होती है, यह प्रो० हक्सले ने एक जगह हिसाब लगाकर बताया है। उनका कहना है कि केवल एक कीड़े से दस पीढ़ियों के अन्दर इतने कीड़े होते हैं कि इन्हें सबको एक जगह इकट्ठा किया जाय तो पचास करोड़ आदमियों जितना उनका वज़न होगा और इसमें समय भी ज्यादा नहीं लगता—

सिर्फ़ दो महीने इसके लिए पर्याप्त हैं। हैज़े का एक कीड़ा सिर्फ़ थोड़े से दिनों में इतनी वंश-वृद्धि कर सकता है कि उसका माप करना भी तभी शक्य है, जब 'पारे परार्धं गणितं यदि स्यात्' हो। इन सब अण्डों से अगर मक्खी या हैज़े के कीड़े पैदा हों तो सारा वायुमण्डल उनसे ऐसा ठस जायगा कि हमें श्वासोच्छ्वास के लिए पूरी हवा भी न मिलेगी। एक मक्खी से बरसात भर में कितनी मक्खियाँ उत्पन्न होती हैं, इसका अनुमान लिने नामक तत्त्वज्ञानी ने निम्न उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है। उसका कहना है कि ये सब मक्खियाँ किसी मरे हुए घोड़े के शरीर पर बैठकर उसे खाने लगें तो जितनी देर में कोई बड़ा भारी शेर उसे खा सकेगा उतनी ही देर में वे भी उसे सफ़ाचट कर जायँगी।

यह तो हुई प्राणियों की बात; पर वनस्पतियों की भी यही दशा है। प्रो० हक्सले ने बताया है कि थोड़ी देर के लिए हम यह कल्पना करें कि एक दरख़्त या वनस्पति में हर साल पचास बीज पैदा होते और फिर उन सबके वृक्ष उगते हैं और हर एक वनस्पति के लिये सिर्फ़ एक वर्गफ़ुट जगह गुंजाइश रक्खें, तोभी सिर्फ़ नौही वर्षों में इनकी इतनी वृद्धि होगी कि सारी पृथिवी पर यही यह हो जायँगी और एक इंच जगह भी और किसी के लिए बाक़ी न बचेगी।

प्राणियों एवं वनस्पतियों में जीवन के लिए कितनी कशम-

कश चल रही है और जीवन के लिए चलने वाला यह युद्ध कितना भयंकर है, ऊपर के इन सब उदाहरणों से पाठकों को सहज ही इसका अनुमान हो सकता है। किसी युद्ध में शत्रु-पक्ष के नब्बे आदमी भी मरें तो हम कहते हैं कि बड़ा संहार हुआ। तब प्राणियों एवं वनस्पतियों में अहर्निश जो यह संघर्ष जारी है, और जिसमें अन्त में हजार पीछे एक आदमी भी शेष नहीं रहता, उसे कौनसा उपयुक्त नाम दिया जाय ?

दूसरी ख़याल रखने लायक़ बात डार्विन की उपपत्ति में वह है कि इस कशमकश में जो प्राणी बाक़ी बचते हैं उनमें औरों की अपेक्षा कुछ-न-कुछ विशेषता अवश्य होती है। सुस्त लोग तो बच ही नहीं सकते। घुड़-दौड़ में जब बहुत तेज़ घोड़ा ही बाज़ी मारता है और रण-संग्राम में शूर एवं बलवान तथा युद्धविद्या के पारंगत योद्धा ही अन्त में विजयी रहते हैं तब फिर जो जीवन-कलह इतना तीव्र है उसमें सुस्त लोग कैसे विजयी हो सकते हैं ? अतएव इस युद्ध में जो प्राणी विजयी होंगे वे जिन्दा रहने की दृष्टि से सबमें योग्यतम ही होंगे। मतलब यह कि सामयिक परिस्थिति का मुक़ाबला करने के उपयुक्त व्यक्ति ही जिन्दा बचेंगे और फिर उन्हीं की सन्तानें पैदा होंगी।

तीसरी बात आनुवंशिकत्व की है। इसका मतलब यह कि बचे हुए व्यक्ति जिन विशिष्ट गुणों के कारण बाक़ी रहे होंगे वे

गुण थोड़े-बहुत परिमाण में उनकी सन्तानों में भी अवश्य रहेंगे। क्योंकि, यह एक निर्विवाद बात है कि, होशियार माँ-बाप की सन्तान चाहे उतनी ही होशियार न निकले तो भी बेवक़ूफ़ माँ-बाप की सन्तान से तो साधारणतया अधिक ही होशियार होगी। इसी प्रकार सशक्त माता-पिता के बालक अशक्त माता-पिता के बालकों से अधिक सशक्त होंगे, इसमें भी शक नहीं। यही आनुवंशिकत्व अथवा आनुवंशिक संस्कार हैं। यह कहने में भी कोई हर्ज नहीं कि यद्यपि इस सम्बन्ध में पहले तत्त्वज्ञानियों में बड़ी उथल-पुथल थी, पर अब तो यह बात पूर्णतया सिद्ध हो गई है।

ख़याल रखने लायक़ चौथी और अन्तिम बात डार्विन की उपपत्ति की यह है कि आनुवंशिक संस्कारों के कारण यद्यपि बालक अपने माँ-बाप के अनुरूप ही होते हैं तथापि अत्यन्त सूक्ष्म बातों में यह सादृश्य क्वचित ही होता है। हरएक में परस्पर थोड़ा-बहुत फेरफार रहता ही है। रास्ते चलते हजारों लोग हमारे देखने में आते हैं। मगर हू-बहू एकही से विरले ही मिलते हैं। और तो क्या पर एक माँ के पेट से एकही समय जुड़वा पैदा होने वाले बालक भी बिलकुल एकसाँ तो नहीं होते। यही बात अन्य सब प्राणियों पर भी लागू होती है। भेड़ों के झुण्ड में हमें चाहे सब भेड़ें एकसाँ ही मालूम पड़ें; पर गडरिया तो उनमें से हरएक को अलग-अलग पहचान ही लेगा। डार्विन के चरित्र में

इस सम्बन्धी उसके बचपन की एक मज़ेदार घटना मिलती है। उसके एक सम्बन्धी ने उससे कहा कि घास की बिलकुल एक समान दो पत्तियाँ अगर तुम ले आओ तो तुम्हें आधा क्राउन इनाम मिलेगा। डार्विन तो ठहरा बालक, अतः इनाम के लालच में, इस खेत से उस खेत के कई चक्कर उसने काटे; परन्तु ऐसी घास की पत्तियाँ उसे कहीं न मिलीं, जो बिलकुल एक समान ही हों। और तो और पर इसी प्रकार किसी दरख्त की एक ही शाखा तक पर तो दो पत्ते तक एकही से मिलते नहीं। मतलब यही, कि वनस्पति हो चाहे प्राणी, किसी में भी कहीं दो व्यक्ति ऐसे नहीं होते कि जो सब प्रकार एक समान हों। थोड़ा-बहुत अन्तर—फिर वह कितना ही थोड़ा क्यों न हो—हमें न भी दीखे तो भी प्रकृत होता ही है। तरह-तरह की चीजें पानी में डालने पर उनमें कौनसी चीजें किस परिमाण में घुलेंगी और कौनसी ज्यों-की-त्यों बेघुली ही रहेंगी, यह जिस प्रकार उन चीजों और पानी के गुण-धर्म पर निर्भर है उसी प्रकार एक जाति में जो अनेक व्यक्ति पैदा होते हैं उनका जीना और मरना उनके आस-पास की परिस्थिति की उनपर होने वाली प्रक्रिया पर अवलम्बित रहेगा। परिस्थिति से समरस हो गये तो जिन्दा रहेंगे; नहीं तो मरना निश्चित है। जिन व्यक्तियों में अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा कोई बिलकुल सूक्ष्म, विशेष और आसपास की परिस्थिति के

उपयुक्त गुण होंगे वे ही जिन्दा रहेंगे। स्पर्द्धा अत्यधिक हो तो बिलकुल ज़रा-सी बात में भी कैसी उपयोगी सिद्ध होती है, इसके दृष्टान्त-स्वरूप एक उदाहरण प्रो० हक्सले ने दिया है। वह इस प्रकार कि नेपोलियन जब मास्को से वापिस हुआ उस समय उसकी सेना अन्न की तंगी, गोला-बारूद की कमी और रूस की कड़ाकेदार सर्दी आदि अड़चनों से बिलकुल तंग आ गई थी और बड़ी दीन-हीन दशा में फ्रांस को वापिस हो रही थी। ऐसे समय सेना में अनुशासन आदि का तो ठिकाना ही कहाँ था। कोई किसी को न पूछता था; जिसे देखो उसे अपने ही प्राणों की पड़ी थी। अतः जो लोग पहले ही कमज़ोर थे वे थकावट से रास्ते में ही पटापट चल बसे; पर औरों ने उनकी कोई पर्वाह न की और बेधड़क उन्हें रौंदते हुए चल दिये। इस प्रकार जब यह सेना वापिस चली जा रही थी तो इसके रास्ते में एक नदी पड़ी जिस पर केवल एक पुल था। उधर रूसी सेना पीछा करही रही थी। अतः जैसे भी हो पहले-से-पहले नदी-पार होने के लिए उनमें भगदौड़ मची और इस भगदौड़ में कितने ही सैनिक समाप्त हो गये। ऐसे समय एक अशक्त सिपाही कैसे नदी पार गया, यह उसने बताया है। उसका लिखना है कि, "मेरे आगे एक अच्छा हट्टा-कट्टा और लम्बा अधिकारी था। उसके शरीर पर एक लबादा था। मैंने उसके लबादे के एक सिरे को खूब कसकर

पकड़ लिया और निश्चयकर लिया कि चाहे मर जाऊँ पर इसे न छोडूँगा। अधिकारी अच्छा बलवान था; अतः भीड़भड़ाके में से रास्ता करता हुआ आगे बढ़ा और मैं भी उसके पीछे-पीछे चलने लगा। उसने मुझे बहुतेरी गालियाँ दीं, मारा, और अन्त में लबादा छोड़ देने के लिए प्रार्थना भी की; पर मैंने तो एकदम चुप्पी ही साध ली। बस, लबादे को कसकर पकड़े रहा। होते-होते इसी प्रकार मैं पुल से पार हो गया और तब मैंने उसका लबादा छोड़ दिया।" यह उदाहरण देने का मतलब यही कि जब जिन्दा रहने की स्पर्धा अत्यन्त तीव्र हो जाती है तब एकाध बिलकुल ज़रा-सी बात पर भी प्राणियों का जीवन अवलम्बित हो जाता है। उपर्युक्त उदाहरण में समझिए कि वह अधिकारी लबादा पहने न होता अथवा लबादा रास्ते में ही फटकर टूट गया होता तो पीछे वाला सिपाही अवश्य मर जाता। इसी प्रकार प्राणियों वा वनस्पतियों में जब जिन्दा रहने की स्पर्द्धा अत्यन्त तीव्र होती है तब उनमें भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म अन्तर तक उपयोगी हो जाते हैं। उदाहरणार्थ खुश्क प्रदेश में बढ़ने वाले वनस्पतियों को लीजिए। उनमें जिनके पत्तों में कुछ रेशे (बाल से) होते हैं वे औरों की बनिस्बत ज्यादा टिकते हैं; क्योंकि उन रेशों या बालों के कारण वे हवा से औरों की बनिस्बत ज्यादा पानी सोख ले सकते हैं। इसी प्रकार जिन वनस्पतियों में थोड़े-से काँटे आदि

हों वे, उनके सबब अन्य प्राणियों से संरक्षण पा जाने के कारण, औरों की बनिस्बत अधिक समय तक क़ायम रह सकेंगे। भेड़िया (Wolf) का उदाहरण लें तो उनमें जिनकी घ्राणेन्द्रिय अधिक तीव्र हों वही अपना पेट भर सकेंगे और सब मर जायँगे। तात्पर्य यह कि जिस व्यक्ति में बिलकुल ज़रा-सी भी कोई ऐसी बात हो कि जिसके सबब शेष व्यक्तियों की अपेक्षा प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष रीति से लाभ हो सके वह व्यक्ति इस स्पर्द्धा में अवश्य ही औरों से श्रेष्ठ सिद्ध होकर विजयी होगा।

ऊपर जो चार बातें कही गई हैं उन सबको एक जगह रक्खें तो वह उपपत्ति हो जाती है, जिसे कि डार्विन ने नैसर्गिक शोध या प्राकृतिक चुनाव का नाम दिया है और जिस अर्थ में सामान्यत: ये सब बातें हमारे अनुभव में आती हैं उस अर्थ में इसमें कल्पना का भाग बहुत थोड़ा है। इसपर से यह कहा जा सकता है कि प्राणियों का क्रम-विकास ऊपर दिये हुए कारणों से होना असम्भव नहीं बल्कि सम्भव है। मतभेद की कोई बात हो तो वह सिर्फ़ यही कि डार्विन ने जो ऐसा कहा है कि क्रम-क्रम से और अत्यन्त धीरे-धीरे व्यक्ति-व्यक्ति में होनेवाले अन्तर के योग से ही बन्दर से मनुष्य हुआ, कई लोग उसे अपूर्ण समझते हैं।

जीवन की यह कलह जैसे किसी एक जाति के भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में जारी है उसी प्रकार किन्तु कुछ कम परिमाण में एक

वर्ण की भिन्न-भिन्न जातियों में और उनसे आगे भी जारी है। यदि कुछ फ़र्क़ है तो वह उसकी तीव्रता की कमी या ज्यादती में है। जिस प्रकार एक ही चीज़ का व्यापार करने वालों के बीच आपस में खूब प्रतिस्पर्द्धा होती है, और वहाँ के वहीं जिनकी दूकानें बिलकुल पास-पास हैं उनमें भी प्रतिस्पर्द्धा खूब ही होती है, भिन्न-भिन्न चीज़ों का व्यापार करने वालों अथवा एक ही चीज़ का भिन्न-भिन्न स्थानों पर व्यापार करने वालों में यह प्रतिस्पर्द्धा ज़रा कम होती है परन्तु उन तक में प्रतिपर्द्धा तो होती ही है, वैसा ही क्रम यहाँ भी जारी है। अर्थात् एक जाति के भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में जैसी प्रतिस्पर्द्धा शुरू है वैसी ही परन्तु कुछ कम परिमाण में भिन्न-भिन्न जातियों में भी वह जारी है और यह इस जीवनार्थ कलह और पर्याय से प्राकृतिक चुनाव पर निर्भर है कि इसके कारण अन्त में कौनसी जाति शेष रहेगी।

डार्विन की इस उपपत्ति पर कईयों का नैतिक दृष्टि से एक बड़ा भारी आक्षेप है; वह यह कि प्राकृतिक चुनाव का नियम बड़ा कठोर है और इससे कुछ व्यक्तियों का (अर्थात् जो कमज़ोर वगैरा हों उनका) स्वतः का कोई अपराध न होने पर भी नाश हो जाता है। क्योंकि कोई व्यक्ति कमज़ोर पैदा हो, अथवा जन्म से ही उसमें कोई कमी हो, तो यह कोई उसका अपना क़सूर नहीं। इस प्रकार यह नियम व्यक्ति की बिलकुल पर्वाह नहीं करता। इसका

हेतु सिर्फ़ यही है कि जाति का संरक्षण कैसे हो, और इसलिए नैतिक दृष्टि से यह नियम असमर्थनीय है।

परन्तु यही बात आगे करके इस नियम का नैतिक दृष्टि से समर्थन किया जायगा। क्योंकि जिस अर्थ में इसका सारा लक्ष्य जाति के संरक्षण की ओर होता है और बहुत से व्यक्ति मिलकर एक जाति होती है, उस अर्थ में व्यक्ति का संरक्षण करना प्रत्यक्ष हेतु है। फ़र्क़ इतना ही है कि व्यक्ति का संरक्षण ऐसी रीति से होना चाहिए कि वह जाति के संवर्धन में बाधक न हो और जहाँ इन दोनों का संघर्ष अथवा विरोध होने की सम्भावना हो वहाँ व्यक्तियों को छोड़कर समस्त जाति के हित पर ही दृष्टि रखनी चाहिए उदाहरणार्थ कुछ व्यक्ति रोगी अथवा दूसरे कारणों से अपात्र हुए तो उनकी प्रजा भी वैसी ही होकर सब जाति के बिगड़ने की संभावना है। तब वहाँ सारी जाति का नाश होना अच्छा अथवा कुछ व्यक्तियों का नाश होना? हमारे व्यवहार में राष्ट्र-हित अथवा समाज-सुधार के लिए अपने जीवन तक का त्याग कर देने वाले कई व्यक्तियों के उदाहरण मिलते हैं, और उनके चरित्रों को हम अत्यन्त उज्ज्वल समझते हैं। तब इस दूर दृष्टि से डार्विन की उपपत्ति का विचार करने पर यह स्वीकार करना पड़ता है कि प्राकृतिक चुनाव का नियम बहुत कड़ा नहीं बल्कि सौम्य और परिणाम में हितकर ही है।

प्राकृतिक चुनाव के प्रमाण

पिछले अध्याय में, विकास के कारणों का विचार करके, हम यह देख चुके हैं कि प्राकृतिक चुनाव के सिद्धान्त के अनुसार प्राणियों का विकास हो सकता है। फिर भी कोई यह शंका कर सकता है—'तुम्हारी दी हुई उपपत्ति के अनुसार विकास हो सकता है, यह बात हम मानते हैं; मगर क्या तुम ऐसे कुछ प्रमाण दे सकते हो, जिनमें इसी कारण विकास हुआ या हो रहा है? अथवा, दूसरे शब्दों में, डार्विन की इस उपपत्ति के बारे में क्या तुम्हारे पास प्रत्यक्ष-से प्रमाण हैं?' सचमुच यह प्रश्न मननीय है, अतः प्रस्तुत अध्याय में इसीपर विचार किया जायगा।

प्राकृतिक चुनाव के प्रमाण

डार्विन की उपपत्ति के अनुसार, जैसा कि पिछले अध्याय में हम देख चुके हैं, व्यक्ति-व्यक्ति और जाति-जाति के बीच जीवन के लिए संघर्ष पैदा होकर उनमें जो-जो व्यक्ति या जाति जीवित रहने के अयोग्य होते हैं वे नष्ट हो जाते हैं और उनसे योग्य व्यक्ति उनकी जगह ले लेते हैं—वही ज़िन्दा बचते हैं। यह बात प्रत्यक्ष है, जैसा कि अनेक प्रमाणों द्वारा बताया जायगा। जहाँ किसी प्राणी की एक जाति पहले से मौजूद हो, खासकर उस देश में उसी प्राणी की उससे भिन्न दूसरी जाति लाकर बसाई जाय तो कई बार ऐसा होता है कि यह नई जाति पहले की जाति की बनिस्बत उस आब-हवा के अधिक अनुकूल निकलती है; इससे कुछ वर्षों में पुरानी जाति नष्ट-प्राय होकर यह नई जाति उसका स्थान ले लेती है। इंग्लैण्ड में इसका प्रत्यक्ष प्रमाण मिलता है। पहले वहाँ अधिकांश चूहे काले रंग के होते थे। एक बार नार्वे से, जहाज़ के द्वारा, भूरे रंग के चूहे वहाँ पहुँचे। और आज यह हाल है कि इंग्लैण्ड में अधिकांश स्थानों पर भूरे रंग के ही चूहे मिलते हैं, पहले के काले रंग के चूहे क्वचित् ही दृष्टिगोचर होते हैं। इसी प्रकार रूस में पहले झींगरों की एक बड़ी तादाद थी; मगर अब एशिया से गये हुए बारीक झींगरों ने उससे पहले के झींगरों का नामशेष कर दिया है। आस्ट्रेलिया में उपनिवेश बसाने वालों के साथ में जो ख़रगोश गये, उन्होंने वहाँ के पुराने

खरगोशों की जाति को खत्म-सा ही कर दिया। वनस्पतियों के बारे में भी इस प्रकार के कितने ही उदाहरण दिये जा सकते हैं। आजकल हम जो भिन्न-भिन्न अनाज पैदा करते हैं उनमें बहुत बार तरह-तरह के निरुपयोगी पौधे उग जाते हैं और किसानों को उन्हें बिलकुल निकाल डालना पड़ता है। क्योंकि इन पौधों को यदि वैसे ही बढ़ने दिया जाय तो खेत में बोये हुए अनाज की बनिस्बत, जिन्दा रहने की दृष्टि से, वे उस जमीन के अधिक उपयुक्त होने के कारण, वे ही सारे खेत में फैल जायँगे और अनाज नहीं-सा ही होगा।

एक दूसरी रीति से भी डार्विन की इस उपपत्ति का प्रमाण मिल सकता है; और वह प्रमाण कुछ ऐसा-वैसा नहीं किन्तु बड़ा जबर्दस्त और समाधानकारक है। हमारे यहाँ कई लोग बढ़िया बैल रखकर उनसे उत्तम बछड़ों की उत्पत्ति करते हैं। पश्चिमी देशों में, यहाँ की अपेक्षा, यह प्रथा बहुत ज्यादा है। वहाँ पर इस प्रकार कबूतर, मुर्गी, कुत्ते, सूअर, घुड़दौड़ के घोड़े इत्यादि जानवरों की उत्पत्ति करने का बहुतों को शौक़ होता है—और, कितनों का तो धन्धा ही यही होता है। इसपर हम ध्यान दें तो हमें मालूम होगा कि यह रीति पिछले अध्याय में वर्णित प्राकृतिक चुनाव के तत्त्वानुसार ही है। एक-दो उदाहरण लें। आज कुत्तों की कई भिन्न-भिन्न जातियाँ हम देखते हैं। जैसे,

बुलडॉग, ग्रेहाउण्ड, टेरियर, स्पैनियल आदि। इन सब जातियों को मूल के एक जंगली कुत्ते से मनुष्य ने स्वयं उत्पन्न किया है, यह कहा जा सकता है। ऊपर कहे हुए अन्य प्राणियों पर भी यही बात लागू होती है। चित्र नं० २२ में देखिए, कितनी तरह के कबूतर हमें दिखाई पड़ते हैं! किन्हींकी चोंच बहुत लम्बी है तो किन्हींकी आध है। कुछ की पूँछ लम्बी हैं तो कुछ की छोटी हैं, और किन्हींकी खुले हुए पङ्ख जैसी हैं। तरह-तरह के ये सब कबूतर अगर जंगली हालत में हमें दिखाई पड़ते तो हम जरूर यह मान लेते कि इन कबूतरों की भिन्न-भिन्न जातियाँ हैं। परन्तु असलियत तो यह है कि इन सब जातियों को उपर्युक्त प्रकार के लोगों ने मूल के जंगली कबू-तरों से अपने बुद्धि-कौशल से उत्पन्न किया है। अब प्रश्न यह है कि ये भिन्न-भिन्न जातियाँ वे कैसे कर सके—क्या वे ब्रह्मा थे, या कोई दैवी शक्ति उनमें थी? सच पूछो तो इनमें की कोई भी शक्ति उनके पास न थी, हमारी ही तरह वे भी मनुष्य थे; अगर कुछ फ़र्क़ था तो वह सिर्फ यही कि अपने आस-पास वे जरा सूक्ष्मता से देखते थे। उनकी पद्धति यह थी कि लम्बी चोंच वाले कबूतर चाहे तो पहले सौ-दोसौ मामूली जंगली कबूतर लेकर उनमें से ज्यादा लम्बी चोंच वाले नर-मादा कबूतरों को चुन लिया। इन कबूतरों से जो बच्चे पैदा हों उनमें से अधि-

कांश की चोंचें सामान्य कबूतरों की चोंचों से लम्बी होंगी ही; क्योंकि उनके माँ-बापों की चोंचें लम्बी थीं। इसके बाद इस पीढ़ी के कबूतरों में से जिनकी चोंचें दूसरे कबूतरों से लम्बी हों उन्हें, पहले की ही तरह, फिर चुनकर उनसे बच्चे पैदा कराये। इस प्रकार यदि बीस-पच्चीस पीढ़ी तक यही क्रम जारी रहा तो पच्चीसवीं पीढ़ी में पैदा होने वाले तमाम कबूतरों की अवश्य ही एक नई जाति बन जायगी। इसी प्रकार घुड़दौड़ के लिए अत्यन्त चपल घोड़े चाहिएँ तो मामूली घोड़ों में से जो अधिक चपल हों उन घोड़े-घोड़ियों को चुनकर उनसे घोड़े की नई सन्तति पैदा करानी चाहिए और चुनाव की यही रीति फिर बीस-पच्चीस पीढ़ियों तक जारी रखनी चाहिए। ऐसा क्रम जारी रखने से आखरी पीढ़ी में पैदा होने वाले ज्यादातर घोड़े खूब चपल होंगे। मतलब यह कि, सामान्यतः ऐसा कहा जायगा, जो कोई गुण जिस किसी प्राणी में खास तौर पर बढ़ाना हो उसके लिए सामान्य व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक परिमाण में वह गुण रखने वाले व्यक्तियों को चुनकर उनसे आगे की पीढ़ी पैदा कराई जाय और इस प्रकार यह क्रम आगे कई पीढ़ियों तक जारी रक्खा जाय तो आखरी पीढ़ी के व्यक्तियों में हमारे चाहे हुए गुण आजायँगे। चित्र में जो प्राणी दिखाये गये हैं उन सबको मनुष्य ने उस-उस जाति के मूल के जंगली प्राणियों से उत्पन्न किया है। वनस्पतियों में

अब तो यह प्रयोग भी ख़ूब बड़े परिमाण में चल रहा है। आज-कल हम जो अनाज या अच्छे-अच्छे फल खाते हैं वे सब पहले जंगली हालत में थे और तब उनमें आज जैसा स्वाद और मिठास नहीं था। परन्तु उपर्युक्त प्रकार से उनसे पहले की जंगली क़िस्मों से मनुष्य ने, अपने कौशल-द्वारा, उन्हें वर्तमान रूप में ला दिया है। इसी रीति से कई कुशल माली भी अपने बाग़ के पुष्प-वृक्षों से तरह-तरह के फूल पैदा करते हैं, यह हम प्रत्यक्ष देखते ही हैं।

इस रीति को हम कृत्रिम चुनाव कहेंगे, और यह वैसी ही है, जैसी कि पूर्वाध्याय में वर्णित प्राकृतिक चुनाव। फ़र्क़ है तो वह सिर्फ़ एक बात में। वह यह कि कबूतर या घोड़े की इच्छित जाति चाहने पर हम जो चुनाव करते हैं वह अपनी दृष्टि से—अपनी रुचि अथवा चाह के अनुसार करते हैं; और प्राकृतिक चुनाव में जो चुनाव होता है, वह उस प्राणी के उपयोग अथवा उसकी चाह के अनुसार किया जाता है। इस प्रकार—सिर्फ़ इस बात को छोड़कर—ये दोनों प्रकार एकसे ही हैं। इस रीति से जब मनुष्य अपनी ज़िन्दगी में ही एक-दूसरे से भिन्न दीखने वाले प्राणी पैदा कर सकता है, तब यही बात लाखों वर्षों के अन्दर इसी प्रकार होते हुए प्राकृतिक रीति से हो जाना कैसे असम्भव है? विशेष कर यह बात ध्यान में रखते हुए कि इस जीव-सृष्टि में

जीवन-संघर्ष कितना तीव्र है और मनुष्य की अपेक्षा प्रकृति की शक्ति कितनी अधिक है, इस बारे में ज़रा भी शंका नहीं रहती कि प्राकृतिक चुनाव के द्वारा एक ही जाति या क़िस्म के प्राणियों से कालान्तर में भिन्न भिन्न जातियाँ बन सकती हैं।

ज़रा आलंकारिक भाषा में कहा जाय तो, इसका सारांश यह है कि, मनुष्य-प्राणी स्वयं यह न जानते हुए भी कि प्राकृतिक चुनाव के अनुसार प्राणियों के रंग-रूपों में परिवर्तन होता रहता है, हज़ारों वर्षों से इस दिशा में प्रयोग कर रहा है और उस प्रयोग के द्वारा अब इस बात की सचाई बिलकुल सिद्ध हो चुकी है। इन प्रमाणों को प्रत्यक्ष देखने के लिए कबूतरों और घोड़ों की भिन्न-भिन्न जातियों के चित्र दिये गये हैं (चित्र नं० १२,१३), उन्हें देखकर इन प्रमाणों को समझने में बड़ी मदद मिलेगी।

अब प्राकृतिक चुनाव के सम्बन्ध में वे प्रमाण दिये जाते हैं, जो प्रयोगों द्वारा पूर्णतया सिद्ध हो चुके हैं। इस उपपत्ति के अनुसार जीवन-संघर्ष में जो व्यक्ति शेष रहते हैं, उनमें औरों की अपेक्षा अपने आस-पास की परिस्थिति का मुक़ाबला करने के गुण कुछ अधिक रहते हैं। इस प्रकार अगर यह उपपत्ति ठीक हो, तो जो व्यक्ति शेष रहते हैं उनमें औरों की अपेक्षा परिस्थिति के अनुकूल गुण विशेष मिलने चाहिएँ; और जो ऐसे
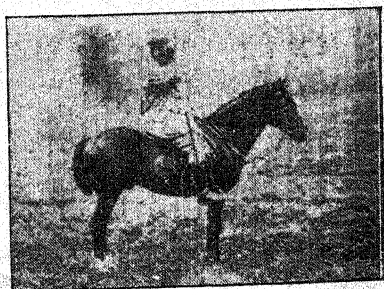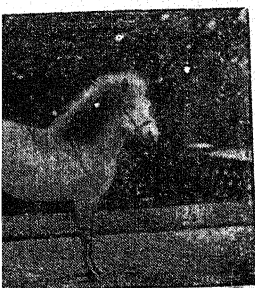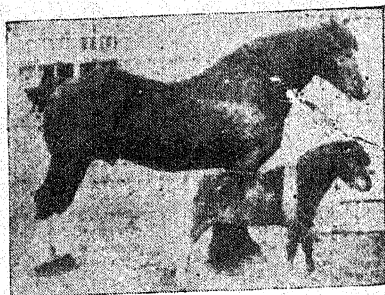
चित्र नं० १२

घोड़ा और उसकी कुल क़िस्में

चित्र नं० १३

भिन्न-भिन्न प्रकार के कबूतर

गुण मिलें तो यह बात निस्सन्देह डार्विन की उपपत्ति को बड़ी
भारी पोषक होकर उसे डार्विन की उपपत्ति का एक स्वतंत्र प्रमाण
ही मानना होगा।

ईस्वी सन् १८९३-९५ और १८९८ के साल में प्रोफ़ेसर
वेलडन नामक वैज्ञानिक ने, प्लाइमाउथ की खाड़ी में, किनारे के
पास के, बहुतेरे घोंघों के कवच की चौड़ाई नापने के प्रयोग किये
थे। प्रयोगों से उसे मालूम पड़ा कि सालोंसाल उसकी चौड़ाई
कम होती जाती थी। ऐसा क्यों होता है, इसका पता उसे देर
से लगा। परन्तु कुछ समय बाद उसने इस सम्बन्धी ऐसी
उपपत्ति लगा ही ली, जो पूर्ण समाधानकारक है। वह यह कि
जिस वर्ष अधिकांश प्रयोग किये गये थे उन दिनों उस खाड़ी में
एक बड़ा बन्द बाँधने का काम भी चल रहा था। उससे पहले
इस खाड़ी के द्वारा नदियों से आई हुई जो मिट्टी-कीचड़ समुद्र में
जाती थी, बन्द बँध जाने पर, बन्द से उसमें बाधा पड़कर उसमें
की कुछ कीचड़ खाड़ी में ही रह जाने लगी। इसके अतिरिक्त इस
काम के लिए जो बहुत से मजदूर आये थे, वे भी वहीं रहते थे;
इससे दूसरी गन्दगी भी उस खाड़ी में जाने लगी। अतः पहले
घोंघों के बढ़ने की जो जगह थी वह धीरे-धीरे अपने आप कम
होने लगी और पहले की अपेक्षा अब उनके स्वैर-संचालन में बाधा
पड़ने लगी। अर्थात्, उनकी स्थिति पहले से बदल गई। पहले

जो बहुत-सी जगह थी, वह अब कम हो गई। तब जीवन-संघर्ष पहले की बनिस्बत अपने आप अधिक हुआ; क्योंकि घोंघे तो उतने ही थे, पर जगह कम हो गई—उन सबको कम जगह में रहना पड़ा। इस जीवन-संघर्ष में जो प्राणी शेष रहे उनमें प्राकृतिक चुनाव के सिद्धान्तानुसार ऐसे कुछ विशेष गुण होने ही चाहिएँ, जो उस परिस्थिति के अनुरूप अथवा उपयोगी हों। अगर यह कहा जाय कि परिस्थिति में कैसा परिवर्तन हुआ, तो हम कह सकते हैं कि घोंघों के रहने की जगह पहले से तंग हो गई। फिर इस बदली हुई स्थिति के अनुसार अवश्य ही घोंघों के कवच का आकार पहले से कम हुआ, जिससे—इस नये परिवर्तन के कारण—उन्हें उस परिवर्त्तित स्थिति का मुक़ाबला करना अधिक सरल हो गया। तब इसमें आश्चर्य की बात नहीं कि उस नवीन परिस्थिति का मुक़ाबला करने के उपयुक्त गुण रखने वाले घोंघे ही शेष रहे। प्राकृतिक चुनाव के सिद्धान्तानुसार शनैः शनैः ऐसा होता ही है। इस प्रकार उपर्युक्त उपपत्ति लगा लेने पर, इस खयाल से कि इस विषय में कोई शंका न रह जाय, वेलडन ने एक साधारण प्रयोग भी करके देखा। उसने उस खाड़ी से बहुत-से घोंघे लेकर पानी से भरे हुए एक बड़े बर्तन में उन्हें रक्खा और उसमें छनी हुई मिट्टी भी डाली। कुछ दिनों बाद उनमें से कुछ घोंघे मर गये और बाक़ी जिन्दा रहे

वेलडन ने उन मरे हुए घोंघों की औसत चौड़ाई निकाली। इस-
पर से उसे मालूम पड़ा कि जिन्दा रहने वाले घोंघों की औसत
चौड़ाई मरने वालों की अपेक्षा कुछ कम थी! बाद में ऐसे और
भी उदाहरण मिले हैं; पर स्थानाभाव से उन सबका यहाँ पर
दिया जाना सम्भव नहीं, न इसकी कोई ख़ास ज़रूरत ही है।
फिर भी इसे और स्पष्ट करने के लिए ज़रा भिन्न प्रकार के कुछ
प्रमाण और दिये जाते हैं, जिससे कि पाठकों का इसपर विश्वास
हो जाय।

अब जो प्रमाण दिये जाते हैं, वे अनेक प्राणियों में होने-
वाले संरक्षक-रंगों सम्बन्धी हैं। पिछले अध्याय में जीवन-संघर्ष
का वर्णन करते हुए हमने देखा है कि जिन्दा रहने के लिए ही
यह सब संघर्ष अथवा यह तमाम कश्मकश है। जिन्दा रहने के
लिए जैसे पेट-भर अन्न मिलना चाहिए उसी प्रकार शत्रु से संर-
क्षण भी होना चाहिए। 'जीवो जीवस्य जीवनम्' न्याय के अनु-
सार, इस संसार में, हरएक का कोई-न-कोई शत्रु है ही। तब
प्राकृतिक चुनाव के सिद्धान्तानुसार शत्रु से संरक्षण होने के लिए
प्राणि-मात्र में अनेक प्रकार के गुण उत्पन्न होने ही चाहिएँ।
और किसी प्राणी की शत्रु से बचने की सबसे सीधी-सादी जो
युक्ति हो सकती है वह यही कि शत्रु की नज़र से बचा जाय, या
उसकी नज़र के सामने आना ही पड़े तो कम आय। अनेक

प्राणियों के उपयोग में यह युक्ति आई है। हरे रंग की किसी चीज़ को हरी घास में रक्खा जाय तो आस-पास की घास में से उस चीज़ को ढूँढ निकालना बड़ा मुश्किल होता है, यह हर कोई जानता है। इसी प्रकार किसी काले रंग की चीज़ को काली मिट्टी में से एकाएक नहीं पहचाना जा सकेगा। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इस संरक्षक-रंग के कारण बहुत-से प्राणी सहज ही शत्रुओं से अपनी रक्षा कर सकते हैं। ऐसे ही कुछ उदाहरण यहाँ दिये भी जाते हैं।

जिन प्राणियों को साधारणतया रात में हिलना-डुलना पड़ता है उनका रंग काला होता है और वह भड़कीला (चमकदार) नहीं होता। चूहे, उल्लू और चिमगादड़ से हमें इस बात का प्रत्यक्ष परिचय मिलता है। इसी प्रकार जिन प्राणियों को हरी और ठण्डी झाड़ियों में रहना पड़ता है उनका रंग साधारणतया हरा होता है; और जिन्हें सूखी घास या दरख़्तों की सूखी पत्तियों आदि में रहना पड़ता है उनका रंग भी अपने आसपास के रंग के समान ही होता है। कुछ कीड़ों का यह हाल है कि जिस ज़मीन में वे रहते हैं उसीसे मिलता-जुलता उनका रंग होता है, यही नहीं बल्कि उनका आकार भी हूबहू उन पत्तों के जैसा ही होता है। इसी प्रकार बहुत-से कीड़े बिलकुल लकड़ी-जैसे दिखाई देते हैं। ये कीड़े किसी न किसी वृक्ष की लकड़ी में

ही रहते हैं, जिसका उद्देश्य यह है कि शत्रु उन्हें पहचान न सकें। इन लकड़ी-जैसे अथवा घास-सरीखे कीड़ों को हमारे यहाँ टिड्डे (तिवा) कहते हैं। बहुत बार घास के साथ इन कीड़ों को भी पशु खा जाते हैं और फिर बीमार पड़ते हैं। १४ नं० के चित्र में ऐसे प्राणियों के तीन चित्र दिये गये हैं।

इटाली में 'प्रेइङ्ग मैण्टिस' (Praying mantis) नाम का एक कीड़ा है। वह दो तरह का होता है। एक का रंग हरा होता है और वह हरी घास पर रहता है; दूसरे का रंग भूरा होता है और वह सूखी घास या दरख्तों की सूखी पत्तियों में रहता है। मतलब यह कि उसका रंग आस-पास के रंग जैसा होने के कारण शत्रु पक्षियों से सहज ही उसकी रक्षा हो जाती है। यहाँ यह कहना अनुचित न होगा कि इस कीड़े में यह रंग प्राकृतिक चुनाव के सिद्धान्तानुसार ही होता है। सेनसोला नाम के एक व्यक्ति ने, इस सम्बन्ध में विश्वास करने के लिए, एक सरल प्रयोग भी किया है। उसने हरे रंग के बीस कीड़े लेकर हरी घास पर डोरी से उन्हें बाँध दिया और उतने ही भूरे रंग के कीड़े लेकर उन्हें सूखी घास के साथ रक्खा। १७ दिनों के बाद जब उसने उन्हें देखा तो वे सब जिन्दा मिले। बाद में उसने २५ हरे कीड़े लेकर उन्हें सूखी घास में रक्खा; ११ ही दिनों में ये सब कीड़े मर गये—अधिकांश को तो पक्षियों ने मार डाला

था। इसी प्रकार उसने भूरे रंग के ४५ कीड़ों को हरी घासपर रक्खा और १० दिनों के बाद देखा तो उनमें से सिर्फ १० ही कीड़े जिन्दा मिले। मरे हुओं में से अधिकांश को पक्षियों ने मार डाला था और सिर्फ ४-५ को चींटियों ने मारा था। इस साधारण प्रयोग पर से यह माना जाय तो कोई हर्ज नहीं कि इन कीड़ों का रंग प्राकृतिक चुनाव के सिद्धान्तानुसार संरक्षक-पद्धति के द्वारा ही होता है।

जो प्राणी जहाँ रहता है वहाँ के वातावरण के अनुरूप उसका रंग होता है, यही नहीं बल्कि आब-हवा के मुताबिक्र जैसे-जैसे आस-पास की भूमि का रंग बदलता रहता है उसीके अनुसार वहाँ रहने वाले कुछ प्राणियों के रंग-रूप में भी परिवर्तन होता रहता है। फलतः ऋतुमान में जैसा अन्तर होता जाता है वैसा ही कुछ-कुछ अन्तर प्राणियों में भी होता जाता है। इंग्लैण्ड के एक पक्षी का रंग गर्मी, बरसात और सर्दी में कैसे बदलता रहता है, यह चित्र नं० १५ में बताया गया है। सर्दियों में उसका रंग भूरा होता है, क्योंकि इस समय आस-पास की भूमि हिमाच्छादित होने के कारण आत्म-संरक्षण की दृष्टि से इन दिनों सफ़ेद रंग अधिक उपयोगी होता है। शेष दोनों रंगों पर भी यही बात लागू होती है। हमारे यहाँ गिरगिट का रंग भी ऋतुमान के अनुसार बदलता रहता है, यह बहुतों ने देखा ही होगा।

चित्र नं० १४

१—यह एक फूल पर रहने वाला कीड़ा है। पत्ते पर बैठा हुआ है, इससे पहचानने में नहीं आता। कोने में इसे अलग भी दिखाया गया है। २—यह एक पत्ते पर रहने वाला कीड़ा है। ३—लकड़ी जैसा कीड़ा एक लकड़ी पर बैठा हुआ है।

चित्र नं० १९

प्रा-ज़ नाम का पक्षी और उसके बदलने वाले रंग—
(१) सर्दी (अप्रैल) (२) बसन्त मई) (३) गर्मी (४) अक्तूबर

अंग्रेज़ी में इसे 'चैमलीन' (Chamelean) कहते हैं। इसका रंग दिन में अनेक बार बदलता रहता है। रात में, अन्धेरे के वक्त, इसका रंग काला होता है; पीली मेज़ पर इसे रक्खा जाय तो इसका रंग पीला हो जाता है; और दरख़्तों में इसका रंग हरा होता है। इसके रंग पलटने की बात इतनी सर्व-सामान्य है कि हमारे यहाँ 'गिरगिट की तरह रंग पलटना' एक आम मुहावरा ही हो गया है।

इसके विपरीत कुछ कीड़े ऐसे भी हैं, जिनका रंग ख़ूब भड़कीला होने के कारण सहज ही उन्हें पहचान लिया जाता है। ऐसा मालूम पड़ता है कि प्राकृतिक चुनाव के सिद्धान्त के वे अपवाद हैं। परन्तु अंग्रेज़ी भाषा की इस उक्ति के अनुसार कि 'अपवादों से ही नियम सिद्ध होता है', एक अर्थ में, इन उदाहरणों से इस सिद्धान्त की सत्यता ही प्रमाणित होती है। कारण, इन कीड़ों के सम्बन्ध में प्रयोग करने पर, वालेस को मालूम पड़ा कि ऐसे कीड़ों को पत्तियों के सामने रखने पर भी वे इन्हें खाने की इच्छा नहीं करते। मगर, फिर इन तरह-तरह के रंगों का प्रयोजन भी क्या? इसका प्रयोजन यह है कि पत्तियों के चंगुल में आनेवाले दूसरे जो कीड़े हैं उनकी अपेक्षा उनके चंगुल में न आने वाले ये कीड़े तुरन्त पहचान लिये जाते हैं। फलतः पक्षी इनपर कभी आक्रमण नहीं करते; इस प्रकार अपने

शत्रु पक्षियों से इनकी रक्षा हो जाती है। अगर इनमें यह रंग न होता तो भूल से कोई पक्षी इनपर भी अपनी चोंच न चला देता ? यह ठीक है कि बाद में वह उस कीड़े को फेंक अवश्य देता, परन्तु इस कश्मकश में फिर उस कीड़े के प्राण तो वापस नहीं न आते !

ऊपर के समस्त उदाहरणों से हमें प्राकृतिक चुनाव के सिद्धान्त के भरपूर प्रमाण मिलते हैं । इस तरह के और भी उदाहरण वनस्पतियों में बहुत-से मिल सकते हैं। भिन्न-भिन्न प्रकार के फूलों और उनके परागों को एक फूल से दूसरे फूल पर ले जानेवाले भ्रमर आदि कीड़ों का परस्पर जो सम्बन्ध है, वह डार्विन की उपपत्ति का बड़ा जोरदार सबूत माना जाता है। परन्तु इन सब उदाहरणों का निष्कर्ष एकही होने के कारण और उदाहरण देने की कोई खास जरूरत नहीं ।

अन्त में केवल एक बात कहनी है। ऊपर दिये गये उदाहरण पहली नजर में तो प्राकृतिक चुनाव के सिद्धान्त के बाधक-से मालूम पड़ेंगे। ऐसे ही और भी अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। ऐसा मालूम पड़ता है कि इनमें से कुछ उदाहरण तो सचमुच अपवादात्मक हैं। परन्तु केवल इसीपर यह नहीं कहा जा सकता कि प्राकृतिक चुनाव का सिद्धान्त ग़लत है। क्योंकि, इस सिद्धान्त में खास तौर पर ध्यान रखने की जो बात है, वह

'प्रकृति' शब्द है—प्रकृति, अर्थात्, आस-पास की सामूहिक परिस्थिति। और, परिस्थिति का मतलब सिर्फ़ हवा, पानी, गर्मी नहीं है। ये बातें भी परिस्थिति में आयेंगी ज़रूर, परन्तु इनके अलावा और भी अनन्त बातें इस शब्द से व्यक्त होती हैं। जगत् में असंख्य वनस्पतियों अथवा प्राणियों के जो अभेद्य जाल फैले हुए हैं उनकी डोरियाँ बड़ी उलझी हुई हैं। किस डोरी का कहाँ सम्बन्ध होगा, यह सहज ही नहीं कहा जा सकता। ऐसा मालूम पड़ता है कि दो प्राणियों या वनस्पतियों का कोई एक सम्बन्ध नहीं। परन्तु गहराई से देखें तो धारण-पोषण की दृष्टि से एक दूसरे का कुछ-न-कुछ पारस्परिक सम्बन्ध निकलता ही है, यही नहीं, बल्कि उनका जीवन एक-दूसरे पर अवलम्बित भी है। अतः जीव-सृष्टि का जो परस्पर-सम्बन्ध है, परिस्थिति शब्द में उसका समावेश होता है। डार्विन की उपपत्ति पर इस दृष्टि से विचार करने पर, इस सम्बन्धी, भ्रम होने का कोई कारण नहीं रह जाता। इस जीव-सृष्टि का परस्पर-सम्बन्ध कितनी उलझन का है, यह समझने के लिए डार्विन के ही दिये हुए दो उदाहरण देकर हम इस अध्याय को समाप्त करेंगे।

दक्षिण-अमेरिका में पैरेग्वे नाम का एक देश है। उस देश में जंगली बैल या घोड़े नहीं मिलते। डार्विन ने इसका कारण जानना चाहा। खोजते-खोजते उसे वहाँ एक तरह की मक्खी

मिली। वह मक्खी ऐसे प्राणियों के बच्चों की नाभि में अपने अण्डे रखती थी और उन अण्डों से पैदा होने वाली छोटी-छोटी मक्खियाँ उन बच्चों को मार डालती थीं। अब जो हम यह कल्पना करें कि उस अरण्य में कोई ऐसा पक्षी होता कि वह इन मक्खियों को खा डालता, तो अकेली इसी बात से उस देश का सारा रंग-रूप ही न बदल गया होता? क्योंकि, उस पक्षी के कारण इन मक्खियों का संहार हो गया होता; और, इससे, जंगली बैल व घोड़े बहुतायत से बढ़े होते। इन घोड़ों व बैलों का निर्वाह वहाँ होने वाले अनेक वनस्पतियों पर निर्भर रहा होता और इससे उनमें के अनेक वनस्पति नाम-शेष हो गये होते। उन वनस्पतियों के नाश से उस देश में अबसे कितना अन्तर होता और यह रहटगाड़ी कहाँ जाकर रुकती, यह किसे मालूम! मतलब यह कि एक प्राणी रहा होता तो उसके लिए कितनी उथल-पुथल मची होती, यह इसपर से सहज ही समझ में आ जायगा।

इसी प्रकार बूढ़ी औरत और 'रेडक्लेवर' नाम की एक घास का परस्पर सम्बन्ध है, यह डार्विन ने बड़ी विनोदपूर्ण रीति से बतलाया है। इस घास की वृद्धि एक प्रकार की मधु-मक्खीपर निर्भर है। वह मक्खी इस घास का पराग इधर-से-उधर ले जाती है और उससे इसमें फल आते हैं। इन (Gadflies) मक्खियों की संख्या, उस देश में, चूहों की संख्या पर निर्भर है; क्योंकि,

चूहे मधु-मक्खियों का नाश कर डालते हैं। और चूहों की संख्या बिल्लियों पर निर्भर रहेगी, यह किसीको बताने की जरूरत नहीं। परन्तु यह सुनकर बहुतों को आश्चर्य होगा कि बिल्लियों की संख्या बूढ़ी औरतों की संख्या पर निर्भर है। बात यह है कि बूढ़ी औरतों को, वहाँ पर, बिल्ली पालने का बड़ा शौक़ होता है। इसलिए, यह स्वाभाविक है कि, बूढ़ी औरतें जितनी ज्यादा होंगी उतनी ही ज्यादा बिल्लियाँ होंगी; बिल्लियाँ जितनी ज्यादा होंगी, चूहे उतने ही कम होंगे; और चूहे जितने कम होंगे, उतनी ही मधु-मक्खियाँ ज्यादा होंगी; तथा मधु-मक्खियाँ जितनी ज्यादा होंगी, उतनी ही घास खूब होगी!
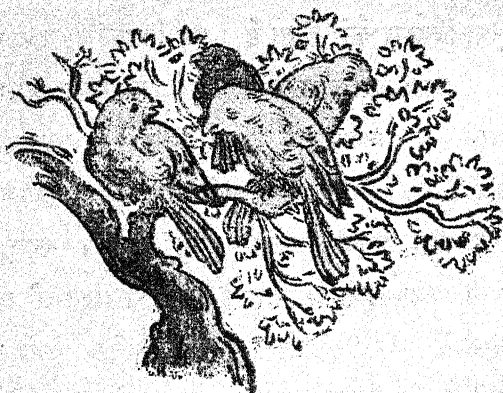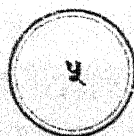
वैषयिक चुनाव और डार्विनवाद

क्रम-विकास कैसे होता है, इस विषय की एक उपपत्ति और उसके सम्बन्ध में मिलने वाले प्रमाणों का विवेचन पिछले दो अध्यायों में किया गया है। उसपर से हम यह देख चुके हैं कि प्राणि-सृष्टि के विकास में प्राकृतिक चुनाव के कारण का बहुत ज्यादा उपयोग हुआ होगा। परन्तु यद्यपि इसके योग से प्राणि-सृष्टि में दिखाई देनेवाली बहुत-सी बातों की उपपत्ति लगती है, फिर भी प्राणि-सृष्टि में अनेक ऐसी भी बातें दिखाई पड़ती हैं कि जिनके सम्बन्ध में इसके द्वारा कोई समाधानकारक खुलासा नहीं दिया जा सकता। उदाहरण के लिए,

मोर के रंग-बिरंगे पर, इसी प्रकार कुछ पक्षियों के चित्र-विचित्र रंग, अथवा हरिण के सुन्दर और मोटे तथा आड़े टेढ़े सींग इत्यादि बातें इन प्राणियों को कैसे प्राप्त हुई होंगी, इसका पता प्राकृतिक चुनाव के सिद्धान्त से ठीक-ठीक नहीं लगता। क्योंकि, इन प्राणियों को ज़िन्दा रहने की दृष्टि से इन बातों का कुछ उपयोग होता हो, ऐसा मालूम नहीं पड़ता। 'इसापनीति' में लम्बे सींग वाले काले हरिण की जो कहानी है, वह हमें मालूम है। देखने में तो सींग बड़े सुन्दर हैं; परन्तु उपयोग की दृष्टि से देखें तो इन सींगों के कारण उस हरिण को उलटे दिक़्क़त होती और अन्त में प्राण तक दे देने पड़ते हैं। तब सामान्यतः आँखों अथवा अन्य इन्द्रियों को सुन्दर लगने वाली जो बातें हमें कुछ प्राणियों और विशेषतः पक्षियों में दिखाई देती हैं, उनकी उपपत्ति इस सिद्धान्त के अनुसार नहीं लगती। इसीलिए, इन बातों की उपपत्ति लगाने का डार्विन ने एक सिद्धान्त और ढूँढ़ निकाला और उसे वैषयिक चुनाव (Sexual Selection) नाम दिया। यह उपपत्ति निम्न प्रकार है।

साधारणतः जिन्हें हम ऊँचे दर्जे के प्राणी कहते हैं, उन प्राणियों में नर और मादा का जो पारस्परिक सम्बन्ध होता है वह जैसा दीखता है सिर्फ़ वैसा ही नहीं होता। इन प्राणियों को ग़ौर से देखने पर मालूम पड़ता है कि उनमें थोड़ा-बहुत तो ज़रूर

ही अपनी-अपनी पसन्द का हिस्सा होता है। नर और मादा, दोनों, अपने बीच, जिसे ज्यादा पसन्द करते हैं, अथवा जिनके सामने आने से सम्भोग की ओर उनकी विशेष प्रवृत्ति होती है, उन्हींको चुनकर सम्भोग करते हैं। यह पसन्दगी कुछ प्राणियों में मादा की ओर से और कुछ में नर की ओर से होती है, परन्तु होती जरूर है। यह बात पक्षियों में खास तौर पर बहुतायत से दिखाई पड़ती है। कुछ पक्षियों में गर्भाधान के समय चार-पाँच नर एक ही मादा के आस-पास एकत्र हो जाते हैं; और हरएक, अपनी ओर, उसे रिझाने का प्रयत्न करता है। कोई गाता है (चित्र नं० १६), कोई नाचता है, कोई अपना शरीर फैलाकर बड़े डील-डौल के साथ उसके सामने खड़ा हो जाता है। मतलब यह कि उनमें से हरएक उसे अपने वशीभूत करने के लिए प्रयत्नशील होता है। अन्त में उनमें से किसी एक के वशीभूत होकर मादा, उसके साथ, सम्भोग में रत हो जाती है; और बाक़ी के सब नर निराश हो जाते हैं। डार्विन का कहना है कि जो चार पाँच नर मादा के सामने नाना प्रकार की चेष्टायें करने का कष्ट उठाते हैं, वे बिना किसी कारण के ऐसा करते हों, यह सम्भवनीय नहीं मालूम होता; ऐसी हालत में उनमें इस चेष्टा का कुछ-न-कुछ हेतु अवश्य होना चाहिए—और, वह हेतु मादा को अपने वशीभूत करना ही हो सकता है। यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि मादा

चित्र नं० १६
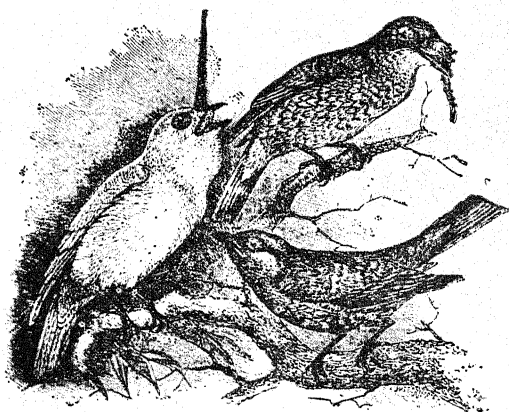
बेल नाम का पत्ती
(दो नर मादा के सामने गा रहे हैं)

चित्र नं० १७

बया पत्ती और उसका बंगला
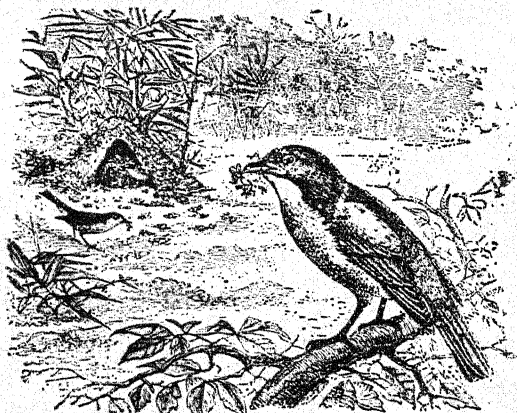
के सामने किये जाने वाले ये अंग-विक्षेप—नाना प्रकार की चेष्टायें—केवल गर्भाधान-काल में ही होते हैं। इससे विश्वास होता है कि ये सब बातें इसी हेतु से होती हैं। इसी प्रकार मादा जो नर चुनती है, उसमें भी उसका कुछ विशिष्ट हेतु होना चाहिए। उदाहरणार्थ, उसे जिसका गाना अधिक प्रिय लगे, अथवा जिसका डील-डौल उसे अधिक आकर्षित करे, या जिसके नाचने पर वह रीझ जाय, उसी नर को वह चुनेगी। इसी प्रकार फिर इन विशिष्ट पक्षियों में जो-जो सुन्दर होंगे, उन्हींके सन्तानोत्पत्ति होगी और आनुवंशिकत्व के कारण उनकी सन्तति अवश्य ही उन्हींके समान होगी। आगे की पीढ़ियों में भी इसी प्रकार चुनाव होते रहने से इन विशिष्ट गुणों में अधिकाधिक वृद्धि होती रहेगी। अन्त में उन सब पक्षियों का रंग अच्छा चमकदार हो जायगा, अथवा उनका स्वर मधुर हो जायगा; अर्थात् इस समय हमें दिखाई देने वाला इकट्ठा सौन्दर्य उन्हें प्राप्त होगा। अतएव उपर्युक्त गुण जिन्दा रहने की दृष्टि से चाहे बहुत उपयोगी न हों, मगर प्रजोत्पत्ति की दृष्टि से वे महत्वपूर्ण हैं; और, इसी दृष्टि से, इन प्राणियों में उनकी उत्पत्ति हुई होनी चाहिए। इस प्रकार डार्विन ने इनके सम्बन्ध की उपपत्ति लगाई और वैषयिक चुनाव नाम रखकर विकास के कारणों में उसका समावेश किया।

परन्तु डार्विन की इस उपपत्ति के सम्बन्ध में बहुतों का मत-

भेद है, और पिछले अध्याय में वर्णित प्राकृतिक चुनाव की उपपत्ति की तरह यह जोरदार और व्यापक भी नहीं है। सबसे पहले तो यही शंका उठती है कि उपर्युक्त सब प्रकार किसी विशिष्ट हेतु से ही होते हैं, यह बात ठीक भी है या नहीं ? इस उपपत्ति में जिस नर का रंग-रूप या गाना-नाचना मादा को अधिक आकर्षित करे उसीको मादा पसन्द करती है, यह हमने कहा है। परन्तु इसमें यह बात हम पहले ही से मान बैठते हैं कि अमुक रंग-रूप और अमुक प्रकार का गाना-नाचना अधिक अच्छा या मधुर है इत्यादि बातें पक्षी जानते हैं और इनमें से अच्छी बातों की ही ओर उनकी प्रवृत्ति होती है—अथवा यों कहिए कि, हम इस बात को स्वीकार कर लेते हैं कि पक्षियों में सौन्दर्य की अभिरुचि होती है। परन्तु, इस प्रकार जिस बात को हम गृहीत मानते हैं, उसका प्रमाण ? पक्षी अथवा सामान्य मनुष्यों की अपेक्षा जो प्राणी नीचे दर्जे के हैं उनमें इस प्रकार की अभिरुचि होगी, यह बात सचमुच हमें कुछ अटपटी-सीही मालूम होती है। लेकिन, नहीं; नीचे दर्जे के प्राणियों में भी ऐसी अभिरुचि होती है, यह हमें मानना होगा। नीचे कुछ उदाहरण दिये जाते हैं, उनसे यह बात स्पष्ट हो जायगी।

बया नाम का एक पक्षी होता है, वह अपने घोंसले के बाहर-भीतर कीचड़ के छोटे-छोटे गोले करके उनपर जुगनुओं को लाकर

चिपकाता है। इसमें हेतु यही मालूम पड़ता है कि चमकदार चीज़ों से अपना घर (घोंसला) सजाया जाय। आफ्रि.का में एक ऐसा पत्ती है, जो अपने घोंसले में काच या चीनी मिट्टी के टुकड़े सीपी, इत्यादि—अर्थात् चमकदार दीखने वाली चीजें—लाकर रखता है। ये चीजें उसके घोंसले की जमीन पर ही नहीं होतीं, बल्कि घोंसले की भीतों पर भी बड़ी होशियारी से लगी हुई दिखाई पड़ती हैं।❀ पम्पुआ में इन पत्तियों की एक जाति

❀ बम्बई की 'लारेन्स एण्ड मेयो' दूकान में कुछ वर्ष पूर्व एक बड़ी आश्चर्यपूर्ण घटना हुई थी। इस दूकान में ऐनकों में लगने वाले बहुत-से सोने चाँदी के फ्रेम बिक्री के लिए रक्खे हुए थे। कुछ दिनों बाद उनमें कुछ फ्रेम कम मालूम पड़े। फिर तो हर रोज़ एकाध फ्रेम गुम होने लगा और उसका कोई पता न लग पाता। तब उसके मालिक ने एक दिन यह तर्कीब की कि एक नौकर को इस तरह छिपा दिया कि जिसमें वह किसी-को दिखाई न पड़े और बाहर से रोज़ की तरह ताला लगा दिया। दूकान बन्द हो जाने पर नौकर ने देखा कि कुछ देर के बाद ऊपर के रौशनदान में से एक पक्षी नीचे उतरा और जहाँ पर ऐनकों के फ्रेम रक्खे हुए थे ठीक वहीं जाकर एक फ्रेम चोंच में दबाकर ले गया! वह किधर जाता है, इसपर नौकर ने ध्यान दिया तो मालूम पड़ा कि पास ही के एक वृक्ष पर उसका घोंसला था। फिर क्या था, दूसरे दिन दूकान वाले लोग उस वृक्ष पर चढ़े और उसका घोंसला ले आये; देखा तो उसमें उनके खोये हुए सब फ्रेम मौजूद थे!

है, वह तो इन सबसे बढ़कर है। इस जाति का पक्षी समतल स्थान ढूँढकर वहाँ अपना घोंसला बनाता है। (चित्र नं० १७)। ये घोंसले लगभग २ फुट ऊँचे होते हैं और किसी छोटी झाड़ी की छाया में रहते हैं। झाड़ी की बीच की लकड़ी पर पक्षी एक छप्पर तैयार करते हैं और झाड़ी में फंदे डालकर बरसात से बचने का उपाय कर लेते हैं। उनके इन घरों की परिधि ९ फुट होती हैं और अन्तिम सिरे पर एक छोटी-सी कमान रहती है। अपने इस चमकते हुए बंगले में वे एक छोटी-सी टिकटी बनाते हैं और भीतरी हिस्से को अच्छी-अच्छी चमकीली-भड़कीली चीज़ों से सजाते हैं। यही नहीं, अपने इस बंगले के इर्द-गिर्द वे एक छोटा-सा बग़ीचा भी तैयार करते हैं; तरह-तरह के रंग-बिरंगे फूल लाकर वहाँ रखते हैं, और पहले फूल सूखे नहीं कि उनकी जगह नये-ताज़ा फूल ला रखते हैं। ऐसे और भी अनेक उदाहरण डार्विन ने दिये हैं। इनपर से, उसका कहना है, हम यह जान सकते हैं कि इन प्राणियों में सौन्दर्य की अभिरुचि होनी चाहिए। क्योंकि, ये चीज़ें इन पक्षियों को खाने के या अन्य किसी भी काम में उपयोगी नहीं होतीं।

दूसरी ध्यान रखने योग्य बात कहो तो जिस बात की उपपत्ति लगाने के लिए डार्विन ने यह कल्पना खोजी उसके सम्बन्ध की है। यह हम जानही चुके हैं कि कुछ प्राणियों में ऐसी कई

बातें मिलती हैं कि जीवन के लिए—ज़िन्दा रहने की दृष्टि से—जिनका कोई उपयोग नहीं होता। जैसे, मोर के रंग-बिरंगे पर अथवा हरिण के सींग। डार्विन ने इन्हें द्वितीय वैषयिक गुण बताया है। हमें ये जो गुण दिखाई पड़ते हैं वे प्रधानतः नरों में ही दिखाई पड़ते हैं और इनका पोषण या उत्कर्ष तभी होता है जब कि वे प्राणी बड़े अर्थात् सन्तानोत्पत्ति के उपयुक्त हो जाते हैं। कुछ पक्षियों में तो गर्भाधान के समय ही ये गुण प्रकट हो जाते हैं। अलावा इसके तरह-तरह के हाव-भाव दिखाकर नर-पक्षी जो गुण व्यक्त करते हैं वे तभी करते हैं, जब कि मादा उनके सामने हो और उस हालत में इसमें वे अपनी पराकाष्ठा तक कर डालते हैं। इससे मादा में सम्भोग की इच्छा बलवती होकर वह उनमें से किसी एक के वश हो जाती है, ऐसा कहना पड़ता है। अतएव, यह कहना ग़ैर-वाजिब नहीं कि, इस द्वितीय प्रकार के वैषयिक गुण की उत्पत्ति इन प्राणियों में वैषयिक चुनाव के तत्त्वानुसार ही होनी चाहिए।

इसी अर्थात् वैषयिक चुनाव के तत्त्व में डार्विन ने और भी कुछ, परन्तु ऊपर कहे हुओं से बिलकुल भिन्न, उदाहरण दिये हैं। अबतक के उदाहरणों में तो यह बतलाया गया है कि एक ही प्रकार के प्राणियों में स्त्री-पुरुषों के बीच सौन्दर्य की दृष्टि से बड़ा फ़र्क़ होता है और डार्विन ने उसकी उपपत्ति अमुक प्रकार लगाई

है। परन्तु इसके अलावा अनेक प्राणियों में स्त्री और पुरुष की शक्ति में, तथा उनके आकार-प्रकार में, दूसरों को मारने के लिए काम आने वाले कुछ स्वाभाविक आयुध होने का भी बड़ा भारी फ़र्क़ होता है; और, इन सब बातों में, स्त्री की अपेक्षा पुरुष अधिक श्रेष्ठ होता है। पुरुष-जाति को इन सबका उपयोग अपने प्रतिस्पर्धी से लड़कर स्त्री प्राप्त करने के काम में होता है। इसी तरह के बहुत-से उदाहरण हमें दृष्टिगोचर होते हैं। इनमें रोज़-मर्रा का उदाहरण कहें तो वह कुत्तों का है। रास्ते में बहुत-से कुत्ते किसी एक कुतिया के पास एकत्र मिलते हैं; उस समय उन कुत्तों में परस्पर लड़ाई-झगड़ा और मार-पीट का आरम्भ होता है। इन सब बातों को वह कुतिया दूर खड़ी हुई चुपचाप देखती रहती है। जो कुत्ता सबसे बलवान होता है, वही इस लड़ाई में जीतता है; और फिर उसी कुत्ते के पीछे वह कुतिया हो लेती है। हरिणों में भी, उनके गर्भाधान के समय, ऐसा ही होता है। इस उदाहरण में जो वैषयिक चुनाव हुआ, वह पहले दिये हुए उदाहरण की बनिस्बत ज़रा भिन्न प्रकार से हुआ। क्योंकि, यहाँ 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' के न्यायानुसार अधिक बलवान ही विजयी हुआ और सन्तानोत्पत्ति कर सका। इस दृष्टि से इस प्रकार को पिछले अध्याय के 'प्राकृतिक चुनाव' के अन्तर्गत रखने में विशेष आपत्ति नहीं। क्योंकि वहाँ भी तो यही नियम लागू

होता है। फ़र्क़ सिर्फ़ इतना है कि जो अशक्त या अपात्र होते हैं, वे प्राकृतिक चुनाव में नहीं टिकते—भूखों मर जाते हैं; परन्तु यहाँ वे मरते नहीं, जीवित रहते हैं, किन्तु उन्हें सन्तानोत्पत्ति नहीं होती। इसी कारण इस प्रकार के उदाहरणों का यहाँ विशेष विस्तार के साथ विचार नहीं किया गया है। अस्तु।

इस तत्त्व के द्वारा मनुष्यों के सम्बन्ध में भी कई बातों की उपपत्ति लगाई जाती है। मनोरञ्जक होने के कारण, इसके कुछ उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं।

साधारणतः देखा जाता है कि अविवाहितों की अपेक्षा विवाहित मनुष्य अधिक काल तक जीते हैं। इसपर से कितने ही लोग यह अनुमान निकालते हैं कि विवाह से आयु बढ़ती है। परन्तु यह कहना, अथवा यह कार्य-कारण-सम्बन्ध, ठीक नहीं; बल्कि हमारी सामान्य समझ के बिलकुल विपरीत है। ऐसी हालत में, प्रश्न यह उठता है विवाहित मनुष्य की आयु कैसे बढ़ जाती है? यह इस अध्याय में वर्णित वैषयिक चुनाव का ही मसाला है। कारण इसका यह है कि जो लोग विवाह करते हैं, अथवा कहिए कि जिनके विवाह होते हैं, वे थोड़े-बहुत परिमाण में ही क्यों न हों पर शेष लोगों में से छँटे या चुने हुए होते हैं और उनकी स्त्रियाँ ही उनका चुनाव करती हैं। स्त्रियों की स्वभावतः यह इच्छा होती है कि हमारे पति स्वस्थ-सुन्दर हों और उनकी पसन्द बहुत-कुछ

पुरुष के शरीर की सुदृढ़ता एवं नीरोगता पर अवलम्बित होती है। साथ ही इसके, जो लोग शरीर से दृढ़ और स्वस्थ होते हैं, औरों की बनिस्बत उनकी प्रवृत्ति विषय-भोग की ओर थोड़ी-बहुत अधिक ही होती है। ऐसे ही लोगों को विवाह करने की अधिक इच्छा होती है—और, शरीर में कुछ कमाने की शक्ति होने के कारण, वे विवाह कर भी लेते हैं। अतएव विवाह करने से आयु बढ़ती है, यह हम कह सकते हैं; परन्तु वस्तुतः तो यह वैषयिक चुनाव का ही एक प्रकार है। यह बात पाश्चात्य लोगों पर, या जिनमें उनके समान विवाह की प्रथा प्रचलित है उनपर, विशेष रूप से लागू होती है।

विकासवाद के सम्बन्ध में डार्विन ने जो विशेष कार्य किया, उसका विस्तृत परिचय इस तथा इससे पहले के दो अध्यायों में दिया जा चुका है। उसपर से पाठकों के ध्यान में यह बात जरूर आई होगी कि क्रम-विकास के कारणों की मीमांसा करना ही डार्विन का यह विशेष कार्य है। इस मीमांसा के समुच्चय को अंग्रेजी में 'डार्विनिज्म' (Darwinism—डार्विनशास्त्र) कहते हैं। हम इसे 'डार्विनवाद' कहेंगे। डार्विन के प्राकृतिक चुनाव के तत्त्व का उल्लेख इसमें खास तौर पर किया जाता है। परंतु डार्विन के बाद इसमें कुछ शास्त्रीय संशोधन और भी हुए हैं। उनपर से यह कहा जा सकता है कि डार्विन ने विकासवाद की

जो मीमांसा की है, कुछ बातों में तो उसमें परिवर्त्तन होना ही चाहिए। अर्थात् डार्विन की मीमांसा की मुख्य कल्पना तो आज दिन-पर्यन्त अबाधित है; परन्तु ज्ञातव्य बातें डार्विन के समय में जो उपलब्ध थीं, उसके बाद बहुत-सी और प्रकाश में आई हैं। ऐसी दशा में इस नई मिली हुई जानकारी के कारण डार्विन के समय की कुछ कल्पना का भी विकास हो जाना कुछ अस्वाभाविक नहीं है। आज यदि डार्विन जीता होता तो स्वयं उसने ही खुशी के साथ अपनी कल्पना में उचित फेर-बदल किये होते। परन्तु इस स्वाभाविक परिस्थिति का लाभ उठाकर पश्चिमी देशों में कहीं-कहीं डार्विन के विरुद्ध और समष्टि-रूप से विकास-वाद तक के विरुद्ध डार्विन-द्वेषी धर्मोपदेशकों ने होहल्ला मचाना शुरू कर दिया है और उनके इस अकाण्ड ताण्डव का परिणाम हो रहा है शास्त्रीय ज्ञान का बढ़ता हुआ अनिष्ट। ❀ इसपर आश्चर्य होता है और भय है कि कहीं इसकी प्रतिध्वनि हमारे यहाँ भी न हो। अतएव बिलकुल संक्षेप में यह देख लेना आवश्यक प्रतीत होता है कि आधुनिक संशोधनों के अनुसार डार्विन की समस्त कल्पना में कौनसा अन्तर हुआ है।

❀ उदाहरणार्थ, अमेरिका के संयुक्तराष्ट्र की कुछ रियासतों में इन धर्मोपदेशकों के आन्दोलन के फल-स्वरूप ऐसा क़ानून बन गया है कि स्कूलों में विकासवाद-सम्बन्धी कोई शिक्षा न दी जाय।

इसके लिए सबसे पहले तो यह बात खास तौर पर ध्यान में रखनी चाहिए कि 'डार्विनिज्म' या 'डार्विनवाद' का अर्थ विकास-वाद किया जाय तो आज तो यह तत्त्व डार्विन के समय से भी अधिक दृढ़ और बद्धमूल हुआ है और इसके विरुद्ध कोई भी समझदार मनुष्य कुछ भी नहीं कह सकता।

परन्तु, जैसा पहले कहा गया है, 'डार्विनवाद' का वास्तविक अर्थ किया जाना चाहिए—डार्विन द्वारा की गई विकास के कारणों की मीमांसा। डार्विन की इस मीमांसा की आधारभूत कौनसी कल्पना है, यह पहले कहा ही जा चुका है। यह कल्पना है—(१) सन्तति की तेजी के साथ होने वाली वृद्धि और उससे अद्भुत जीवन-संघर्ष; (२) उस जीवन-संघर्ष के परिणाम-स्वरूप समस्त व्यक्तियों में से कुछ व्यक्तियों की होने वाली छँटाई या उनका चुनाव; (३) उस चुनाव का साधन, अर्थात् व्यक्ति-व्यक्ति में होने वाला अन्तर; और (४) होने वाले चुनाव को क़ायम रखने का साधन, अर्थात् आनुवंशिकत्व या वंश-परम्परा।

इनमें से जीवन-संघर्ष और उसके परिणाम-स्वरूप सारे व्यक्तियों में से सिर्फ़ कुछ व्यक्तियों का चुनाव होकर उनका बाक़ी रहना ये दोनों कल्पनायें डार्विन के समय की भाँति आज भी अबाधित हैं और इनकी सचाई आज के प्रति-स्पर्द्धा के समय में भी प्रत्येक मनुष्य को दिखाई पड़ती है। यह चुनाव होने का

साधन व्यक्ति-व्यक्ति में होने वाला अन्तर होता है, यह कहा ही जा चुका है। यह अन्तर दो प्रकार का होता है। एक तो जातियों में होने वाले एक या अनेक सामान्य गुणों का कम-ज्यादा विकास होना। जैसे, हम मनुष्य के हाथों या पैरों की अंगुलियाँ लें तो व्यक्ति-व्यक्ति में हड्डियों की लम्बाई हमेशा कम-ज्यादा मिलेगी। यह जो बारीक-सा फ़र्क़ होता है उसे अंग्रेज़ी में Fluctuating Variations कहते हैं। परन्तु कभी-कभी हमें इससे कहीं बड़े और भिन्न प्रकार के अन्तर भी मिलते हैं। ये अन्तर पहलों की तरह इतने व्यापक नहीं मालूम पड़ते। ये एकाध दूसरे व्यक्ति तक ही मिलते हैं और वह भी कभी-कभी और कहीं-कहीं ही। उदाहरणार्थ कभी-कभी हम देखते हैं कि कुछ मनुष्यों के छः अंगुलियाँ होती हैं। ऐसे फ़र्क़ों को अंग्रेज़ी में Mutations कहते हैं। इसी प्रकार हम उनके भेद करेंगे। डार्विन की समझ में जीवन-संघर्ष में चुनाव होने के काम में इन बड़े फ़र्क़ों की बनिस्बत पूर्वकथित बारीक फ़र्क़ों का उपयोग अधिक होना चाहिए। क्योंकि, उसका यह कहना था कि, यह फ़र्क़ यदि देखने में सूक्ष्म मालूम पड़ता है तथापि यह अनेक व्यक्तियों में पीढ़ी-दर-पीढ़ी लगातार पैदा होता रहता है, जिससे हर पीढ़ी में थोड़ा-थोड़ा बढ़ते हुए बहुत कालोपरान्त वह बहुत बड़ा होकर उससे एक निराले ही तरह का प्राणी या वनस्पति

उत्पन्न होता है। इसके विपरीत जो बड़ा फ़र्क़ (Mutations नाम से) कहा गया है, वह यद्यपि बड़ा है तथापि कुछ समय तक के लिए ही एक दूसरे व्यक्ति में उत्पन्न होने वाला होने के कारण आगे की पीढ़ियों तक क़ायम रहने वाला नहीं होता। क्योंकि दैवयोग से जिस किसी व्यक्ति में यह फ़र्क़ होगा उसका वैसे ही दूसरे व्यक्ति से संयोग होने की सम्भावना बहुत कम है, और ऐसा संयोग न होने से उससे होने वाली सन्तान में अवश्य ही वह गुण कम होगा; और इस प्रकार से पीढ़ी-दर-पीढ़ी कम होते हुए कुछ कालोपरान्त वह बिलकुल मिट जायगा। यही डार्विन की विचारशैली थी; और वह उस समय उपलब्ध शास्त्रीय जानकारी के अनुसार ही थी, इसमें शक नहीं।

परन्तु डार्विन के बाद, पिछले ३०-४० वर्षों में, इस सम्बन्ध में संशोधन हुए हैं। उनपर से मालूम पड़ता है कि ऊपर जो बड़े फ़र्क़ कहे गये हैं वे उतने विरले नहीं हैं, जितने कि डार्विन को मालूम पड़ते थे। उलटे कभी-कभी कुछ वनस्पतियों और प्राणियों में ऐसे फ़र्क़ बड़ी तेजी से पैदा होते हैं, ऐसा मालूम पड़ता है। डीरीस ने इस सम्बन्ध में बड़ा अध्ययन किया है। उसे सिर्फ कुछ ही वर्षों की अवधि में अपने बाग़ में शाम के वक्त खिलने वाले एक तरह के गुलाब के दरख्त में इतने फ़र्क़ मालूम पड़े कि उनपर से उसने पाँच-सात तरह के भिन्न-भिन्न गुलाब निकाले।

इसके अतिरिक्त डार्विन को ऐसा मालूम होता था कि ये बड़े भेद आगे की पीढ़ी तक कचित् ही पहुँचते हैं, अर्थात् वह यह समझता था कि वे आनुवंशिक नहीं हैं। परन्तु इस सम्बन्ध में डार्विन के ही समय में मेंडेल नामक एक शास्त्रज्ञ ब्रून में प्रयोग कर रहा था, उसके प्रयोग से आनुवंशिकत्व पर बहुत-कुछ प्रकाश पड़ा है। उसने यह बताया है कि ये जो बड़े फ़र्क़ कभी-कभी पैदा होते हैं वे अगली पीढ़ी के कुछ व्यक्तियों में और उसके बाद की पीढ़ी में भी कुछ व्यक्तियों में जैसे-के-तैसे ही क़ायम रहते हैं। इतना ही नहीं बल्कि मेण्डेल ने इस बात का ठीक परिमाण भी खोज लिया है कि हर पीढ़ी में ये भेद कितने व्यक्तियों में रहेंगे और कितनों में नहीं रहेंगे। परन्तु दुर्दैववश डार्विन को मेण्डेल के प्रयोगों की खबर बिलकुल नहीं मिली। और तो क्या पर मेण्डेल ने यह जो अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रयोग करके आनुवंशिकत्व के सम्बन्ध में निश्चित सिद्धान्त बनाया उसका पता भी सन् १९०० ई० तक, जबतक कि डीरीस ने इस अजीब शोध की ओर विशेषज्ञों का ध्यान नहीं दिलाया, किसी को न था। डार्विन के समय तो यह जानकारी बिलकुल भी उपलब्ध न थी, इससे व्यक्ति-व्यक्ति में जो सूक्ष्म भेद होते हैं उन्हींपर डार्विन का अधिक आधार रहा। परन्तु, जैसा कि अभी कहा, अब स्थिति बदल गई है। गैलटन ने बताया है कि जो सूक्ष्म-भेद होते हैं

उनके योग से दूर तक विकास नहीं हो सकता; क्योंकि वे दोनों दिशाओं में होने से उनकी बराबरी क़ायम रहती है। अतएव आधुनिक संशोधनों पर से प्राकृतिक चुनाव की उठान इन सूक्ष्म-भेदों की अपेक्षा बड़े भेदों परही करनी चाहिए।

स्पष्ट प्रमाण

अभी तक तो हमने संक्षेप में इस बात पर विचार किया कि हम यह क्यों कहते हैं कि जीव-सृष्टि का विकास हुआ होना चाहिए; साथ ही इस सम्बन्ध में भी हमने कुछ विचार किया है कि वह विकास किस प्रकार हुआ—अर्थात्, प्राणि-सृष्टि और वनस्पति-सृष्टि में जो हलके-हलके फ़र्क़ होते गये, वे कैसे हुए। उस विवेचन पर से हम यह जान चुके हैं कि विकास के लिए दो बातें अवश्यक हैं, जिनके बिना विकास का होना सम्भव ही नहीं है। वे दो बातें हैं—अनुवंशिकत्व (Heredity) और

व्यक्ति-व्यक्ति में होने वाले फेर-बदल (Variability)। इन्हें हम विकास के घटक कह सकते हैं। परन्तु इन दोनों बातों को गृहीत मान लेने पर भी, यह प्रश्न शेष रह ही जाता है कि विकास होता कैसे है ? प्रधानतः प्राकृतिक चुनाव और वैषयिक चुनाव के तत्त्वों के अनुसार हमने इस प्रश्न का उत्तर दिया है। फिर भी कोई यह कह सकता है—' यह विचार-शैली हमें पूर्णतः स्वीकार है; प्राणियों और वनस्पतियों में जो विविध प्रकार होते हैं उनका प्रत्येक का विकास स्वतंत्र रूप से होता है, यह कहने की अपेक्षा यह कहना अधिक युक्तियुक्त मालूम पड़ता है कि ये भिन्न-भिन्न प्रकार मूल में किसी एक ही प्रकार या जाति से उत्पन्न हुए होंगे। इसी तरह ये सब प्रकार मूल के एक ही प्रकार से बदलते-बदलते किसी कारणवश उत्पन्न हुए होंगे, इस सम्बन्धी तुम्हारी उपपत्ति भी हमारी समझ में आती है। ये सब बातें हुई होंगी, इस सम्बन्ध में भी हमारा मतभेद नहीं है। हमारा कहना सिर्फ़ यह है कि कम-से-कम किसी एकाध प्राणी के सम्बन्ध में भी दिखा सकने योग्य ऐसे कुछ स्पष्ट प्रमाण हैं या नहीं, कि जिससे यह मालूम हो कि उसका क्रम-विकास हुआ और वह अमुक-अमुक प्रकार से हुआ ? क्योंकि, इसके बिना पिछला सारा विवेचन बहुत-कुछ काल्पनिक ही होगा।"

प्रस्तुत अध्याय में इसी प्रश्न का उत्तर दिया जायगा। थोड़े में

'हाँ' में हम इसका उत्तर दे सकते हैं और घोड़े, हाथी जैसे प्राणियों के सम्बन्ध में इसके प्रमाण दिये जा सकते हैं। विकास-सम्बन्धी प्राच्य-प्राणिशास्त्र और प्राच्य-वनस्पति-शास्त्र में मिलनेवाले प्रमाणों पर विचार करते समय इस प्रश्न का थोड़ा-सा दिग्दर्शन किया गया था, यह पाठकों को स्मरण ही होगा। उसीका अब हम ज़रा विस्तार के साथ विचार करेंगे।

इस समय हमें जो प्राणी मिलते हैं, विकासवाद के अनुसार, सृष्टि के आरम्भ में वे स्वतंत्र रूप से पृथक्-पृथक् उत्पन्न नहीं हुए। पृष्ठवंशीय अर्थात् रीढ़ वाले प्राणियों को ही हम लें तो उनमें भी घोड़ा, हाथी, मछली, पक्षी इत्यादि विविध जातियाँ हैं और उनमें से प्रत्येक में फिर अनेक जाति-उपजातियाँ हैं। मिसाल के लिए घोड़े को देखिए। गँवारू टट्टू से लेकर उमदा अरबी अथवा आस्ट्रेलिया के तेज-तर्रार जंगली घोड़े तक नाना प्रकार की जातियाँ होती हैं, यह हमें मालूम है। विकासवादियों का कहना है कि ये सब जातियाँ मूल में किसी एक ही क़िस्म या जाति से, परि-स्थिति-वैभिन्य के कारण अथवा दूसरे किन्हीं कारणों से, धीरे-धीरे उत्पन्न हुई हैं। इतना ही नहीं बल्कि इसी विचार-शैली को ज़रा दूर ले जायँ तो यह भी कहा जायगा कि रीढ़ वाले इन सब प्राणियों के मूल-पूर्वज एक ही थे और उन्हींसे क्रम-क्रम से ये सब विविध प्राणी उत्पन्न हुए हैं। अथवा, जिस प्रकार किसी वृक्ष के अनेक

शाखायें फूट निकलती हैं उसी प्रकार समस्त रीढ़ वाले प्राणी मिलकर इन रीढ़ वाले प्राणियों का भी एक बड़ा भारी वंश-विस्तार है।

इस विचार-शैली को यदि हम स्वीकार करलें, तो आजकल के घोड़े अवश्य ही किसी 'च' या 'अ' प्राणी से उत्पन्न हुए होने चाहिएँ; और, विकासवाद के अनुसार, यह बात अत्यन्त धीरे-धीरे—क्रमशः—घटित हुई होनी चाहिए। अतएव आज-कल के हमारे घोड़ों और विकासवादियों के मतानुसार होने वाले उनके पूर्वजों के दर्मियान जिनकी शरीर-रचना हो, ऐसे बहुत-से प्राणी आज दिन चाहे अस्तित्व में न रहे हों परन्तु प्राचीन काल में अवश्य हो गये होंगे। और जो वे सचमुच ही हो गये हों तो उनमें से कुछेक प्राणियों के अवशेष भी अवश्य मिलेंगे, अथवा ठठरियों (फ़ासिल्स) के रूप में वे हमें मिलने चाहिएँ। मतलब यह कि विकासवादियों के मतानुसार वर्तमान घोड़ों के पूर्वज, साथ ही उनके कुछ अवशेष, और उनकी शरीर-रचना। उन पूर्वजों की शरीर-रचना से लेकर आजकल के घोड़ों की शरीर-रचना पर्यन्त क्रम-पूर्वक लगातार बदलती जानी चाहिए; और आजकल जो घोड़े हैं, कड़ी-से-कड़ी लगते हुए मानों उनकी एक शृंखला ही बन गई है। इस प्रकार इस शृंखला के दोनों सिरों की कड़ी हमें मिलती हो तो फिर इस सम्बन्ध में बिलकुल संशय

नहीं रह जाता कि उन पूर्वजों से ही आजकल के हमारे घोड़ों का विकास हुआ होगा।

परन्तु बीच की ये कड़ियाँ मिलती हैं या नहीं, यह देखने के पहले हमें आजकल के घोड़ों की शरीर-रचना जान लेना बेह-तर होगा। उसमें भी खासकर घोड़े के पैरों के सम्बन्ध में, अर्थात् पेट के नीचे के भाग का ही, हम विचार करेंगे। घोड़े को सबने देखा होगा। इसकी ऊँचाई साधारणतः ४ से ५॥ फुट तक होती है। यह बड़ा चपल प्राणी है। ऊँची नस्ल का घोड़ा कभी बैठता नहीं—बैठता भी है तो बहुत थोड़े समय तक और जब आस-पास कोई न हो, यह बहुतों को मालूम होगा। उसकी समस्त शरीर-रचना ही ऐसी होती है कि उसे बैठने की विशेष आवश्यकता नहीं पड़ती। घोड़ा पृष्ठवंशीय प्राणियों के वर्ग में आता है और पहले विकास-विषयक प्रमाणों पर विचार करते हुए यह हम देखही चुके हैं कि इस वर्ग में यद्यपि नाना प्रकार के प्राणी हैं मगर उन सबकी शरीर-रचनाओं में बहुत-कुछ साम्य है और वह इतना है कि इसमें के अनेक प्राणी एकही से परन्तु सूक्ष्म बातों में थोड़े-बहुत फ़र्क़ पड़े हुए हैं, ऐसा प्रतीत होता है। दूसरे अध्याय में स्थूलमान से कुछ पृष्ठवंशीयों की शरीर-रचना दी जा चुकी है। इस श्रेणी के समस्त प्राणियों का प्रधान गुण उनकी पीठपर एक या कई हड्डियों की बनी रीढ़

का होना है—और, घोड़े की पीठ में भी ऐसी ही रीढ़ व हड्डियाँ होती हैं। तदुपरान्त तमाम पृष्ठवंशीयों में दो हाथ और दो पैर अथवा चार पैर या उनके अवशेष, ऐसे चार अवयव उनके शरीर को गति देने के लिए होते हैं। इन अवयवों की सामान्य रचना हम पीछे देखही चुके हैं। यह रचना मनुष्य के हाथ-पैरों की रचना के समान होती है, यहाँ तो इतना ही कहना पर्याप्त होगा। स्पष्टीकरण के लिए दूसरे अध्याय में चित्र द्वारा मनुष्य के हाथों की जो रचना बताई गई है उसे देखना चाहिए।

अब हम घोड़े के शरीर को देखें तो सबसे पहले तो घोड़े के हाथ नहीं होते, ऐसा हमें मालूम होगा। परन्तु शरीर-शास्त्र की दृष्टि से हाथ और पाँव का भेद बहुत क्षुद्र है। मनुष्य बचपन से रेंगने लगे तो उसके हाथों को आगे के पाँव कहा जा सकता है। अतः घोड़े के आगे के दोनों पाँव मनुष्य के हाथों के बजाय हैं और पीछे के दोनों पाँव मनुष्य के पाँवों के बजाय हैं, यह हमें समझना चाहिए।

अब घोड़े के आगे के पाँवों की मनुष्य के हाथों या पाँवों से तुलना करें तो इन दोनों में बड़ा फर्क है, ऐसा ग़ौर के साथ देखने पर दिखाई देगा। मनुष्य के हाथ को कन्धे से शुरू करें तो सबसे पहले कन्धे से कुहनी तक एक हड्डी (Humerus), पश्चात् कुहनी से कलाई (पहुँचे) तक एक-दूसरे से मिली हुई दो

का होना है—और, घोड़े की पीठ में भी ऐसी ही रीढ़ व हड्डियाँ होती हैं। तदुपरान्त तमाम पृष्ठवंशीयों में दो हाथ और दो पैर अथवा चार पैर या उनके अवशेष, ऐसे चार अवयव उनके शरीर को गति देने के लिए होते हैं। इन अवयवों की सामान्य रचना हम पीछे देखही चुके हैं। यह रचना मनुष्य के हाथ-पैरों की रचना के समान होती है, यहाँ तो इतना ही कहना पर्याप्त होगा। स्पष्टीकरण के लिए दूसरे अध्याय में चित्र द्वारा मनुष्य के हाथों की जो रचना बताई गई है उसे देखना चाहिए।

अब हम घोड़े के शरीर को देखें तो सबसे पहले तो घोड़े के हाथ नहीं होते, ऐसा हमें मालूम होगा। परन्तु शरीर-शास्त्र की दृष्टि से हाथ और पाँव का भेद बहुत क्षुद्र है। मनुष्य बचपन से रेंगने लगे तो उसके हाथों को आगे के पाँव कहा जा सकता है। अतः घोड़े के आगे के दोनों पाँव मनुष्य के हाथों के बजाय हैं और पीछे के दोनों पाँव मनुष्य के पाँवों के बजाय हैं, यह हमें समझना चाहिए।

अब घोड़े के आगे के पाँवों की मनुष्य के हाथों या पाँवों से तुलना करें तो इन दोनों में बड़ा फर्क है, ऐसा ग़ौर के साथ देखने पर दिखाई देगा। मनुष्य के हाथ को कन्धे से शुरू करें तो सबसे पहले कन्धे से कुहनी तक एक हड्डी (Humerus), पश्चात् कुहनी से कलाई (पहुँचे) तक एक-दूसरे से मिली हुई दो

होती हैं। घोड़े के आगे के पाँवों के खुर मानों हमारे हाथों के बीच की अंगुलियों के नाखून हैं, और इसी प्रकार उनके पिछले पैरों के खुर मानों हमारे पाँवों के बीच की अंगुलियों के नाखून हैं। संक्षेप में कहें तो घोड़ा अपने पैरों के सहारे खड़ा रहता है, यह न कहकर यह कहना अधिक युक्तियुक्त होगा कि वह अपनी बीच की अंगुलियों के नाखूनों के सहारे खड़ा रहता है। घुटने से ऊपर के भाग पर नजर डालें तो हमें दिखाई देगा कि उसके घुटने से लेकर छाती तक एक ही हड्डी है, जब कि इसी भाग में हमारे दो हड्डियाँ हैं। अर्थात् घोड़े में हमारी तरह चार हड्डियाँ (Radius, Ulna, Tibia, Fibula) न होकर सिर्फ दो (Radius और Tibia) ही होती हैं। तदनन्तर हमारे जिस प्रकार घुटने से कमर तक अथवा कुहनी से कन्धे तक एक बड़ी हड्डी होती है, वैसे ही घोड़े में भी कन्धे तक और पूँछ के ऊपर के भाग तक एक-एक बड़ी हड्डी होती है।

(चित्र नं० १८) सारांश, घोड़े के अगले पाँवों की यदि हम अपने हाथों से तुलना करें तो कहना पड़ेगा कि घोड़े के खुर मानों हमारी बीच की अंगुलियों के नाखून हैं, उसके घुटने हमारी कलाई हैं, उसके पाँवों का पेट के नजदीक वाला भाग हमारी कुहनी है, और उसका कन्धा मानों हमारा भी कन्धा है। यही बात दूसरे शब्दों में कहें तो, कल्पना कीजिए कि आपके

चित्र नं० १८
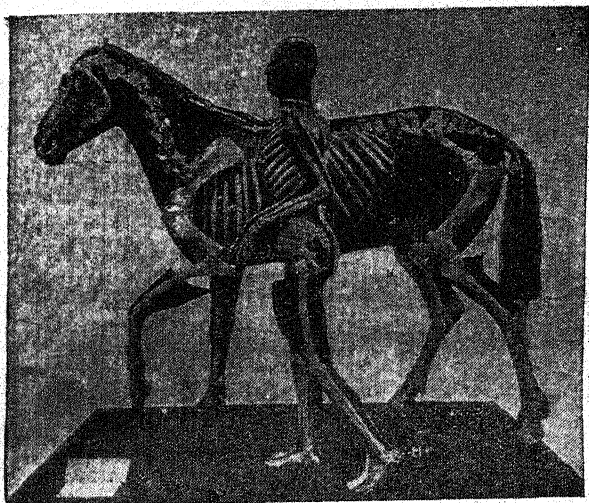
घोड़ा और मनुष्य

घोड़े के पैरों के खुर मानों हमारी बीच की अगुलियों के नाखून होते हैं उनके घुटने मानों हमारी कलाई, और उनके पैर के पास का भाग मानों हमारी कुहनी होती है ।

चित्र नं० १९
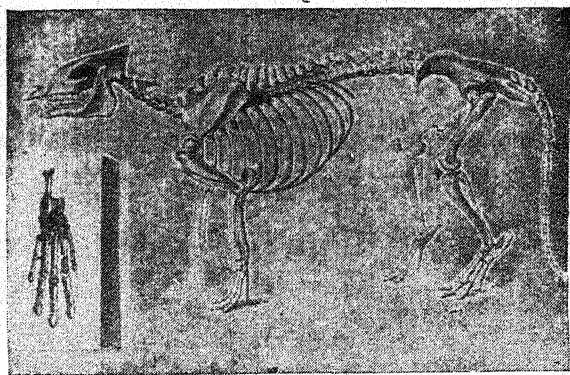
फीनॅकोडस् (घोड़ों के अत्यन्त प्राचीन पूर्वज) – इनके पैरों में पाँच अँगुलियाँ होती थीं और वे सब ज़मीन पर टिकती थीं ।

चित्र नं० २०
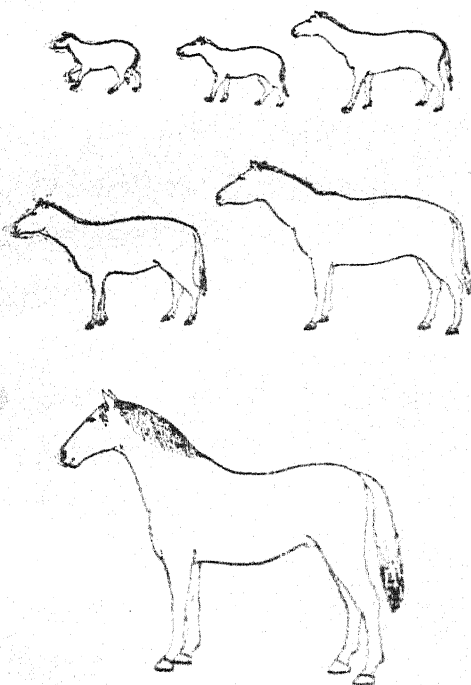
घोड़े का विकास

चित्र नं० २१
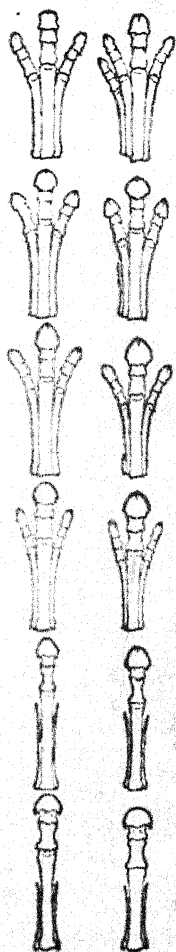
घोड़े के पैरों का विकास

हाथों के बीच की अंगुलियों के नाखून खूब बढ़े हुए हैं। फिर दोनों अंगुलियों को इस तरह ज़मीन पर सीधी खड़ी रक्खो कि सिर्फ नाखून ज़मीन पर रहें। पश्चात् घण्टे-भर के लिए ऐसा समझ लो कि बीच की अंगुलियों को छोड़कर बाक़ी अंगुलियाँ हमारे हाथों में नहीं है, और अपनी कलाई को जैसे घोड़े के घुटने कुछ आगे को झुके हुए होते हैं उस तरह कुछ टेढ़ी करो। बस, घोड़ा कैसे चलता है, इसकी साधारण कल्पना हो जायगी।

अन्त में घोड़े के घुटने की जो हड्डी होती है उसके दोनों तरफ़ बिलकुल बारीक और निरुपयोगी दो हड्डियाँ मिलती हैं। ये हड्डियाँ मानों हमारी दूसरी और चौथी अंगुलियों के आगे अर्थात् बीच की अंगुलियों के पास होने वाली दोनों हड्डियाँ हैं। यही नहीं, कभी-कभी ऐसे छोटे खच्चर भी मिलते हैं कि उनके पाँवों में हमारी शेष अंगुलियों से मिलती-जुलती परन्तु बिलकुल सूक्ष्म और भी कुछ हड्डियाँ होती हैं।

उपर्युक्त वर्णन में यह बात पाठकों की समझ में आ गई होगी कि घोड़े के पाँवों की रचना कई बातों में अन्य पृष्ठ-वंशीय प्राणियों की रचना के समान है और कई बातों में उनसे भिन्न है। विकासवादियों का कहना है कि घोड़ा जब पृष्ठ-वंशीय-वर्ग का प्राणी है तब, आज चाहे उसके पाँवों की रचना ऊपर कहे हुए अन्य पृष्ठवंशीयों के पाँवों की रचना से भिन्न

हो मगर घोड़े के प्राचीन पूर्वजों के पाँव आज के पृष्ठवंशीयों के पाँवों के जैसे ही थे। संक्षेप में कहें तो घोड़े के प्राचीन पूर्वजों के पाँवों की रचना मनुष्यों के पाँवों के जैसी ही थी और जिस तरह मनुष्य के पाँव में पाँच अंगुलियाँ हैं और वे सब ज़मीन पर टिकती हैं, उसी तरह घोड़े के पूर्वजों के पाँवों में भी प्राचीनकाल में पाँच अंगुलियाँ थीं और चलते समय वे ज़मीन पर टिकती थीं। इसी प्रकार उस समय उनके टखने आज की तरह इतने ऊँचे न होकर ज़मीन के निकटवर्त्ती ही थे। चित्र में दिखाये हुए प्राणी विकासवादियों के मत से आज के समस्त घोड़ों के अत्यन्त प्राचीन पूर्वज थे। इनके प्रत्येक पाँव में पाँच अंगुलियाँ थीं और और वे सब हड्डियाँ तथा पाँव के तलुए का बहुत-कुछ भाग ज़मीन पर टिकता था, यह दिखाई देता है। इसी प्रकार उनके टखने भी ज़मीन से बहुत ऊँचे नहीं हैं। इनका नाम उन्होंने 'फीनेकॉड्स' रक्खा है। (चित्र नं० १९)।

आज के घोड़ों के पाँवों में इन तमाम अंगुलियों में से सिर्फ़ एक बीच की अंगुली बाक़ी बची है और चित्र में दिखाये हुए दूसरे प्राणियों की बीच की अंगुली की अपेक्षा वह बहुत अधिक बढ़ी है। अलावा इसके इन घोड़ों के पूर्वजों की ऊँचाई औसतन १०–११ इंच है, जबकि आजकल के घोड़ों की ऊँचाई औसतन ४॥–५॥ फ़ुट है। यदि इस चित्र में दिखलाये हुए प्राणियों

से लेकर आज के घोड़े तक क्रम-विकास होता रहा हो, और वह विकास अवकाशानुसार क्रम-क्रम से हुआ हो, तब मोटे तौर पर यह कल्पना करना बहुत मुश्किल नहीं है कि यह विकास किस तरह हुआ होगा। आज के घोड़ों के एक ही अंगुली होती है और वह बहुत बड़ी है, जब कि इन प्राणियों में पाँच अंगुलियां होकर वे सब ज़मीन पर टिकती थीं। यदि यह सब धीरे-धीरे होता हो तो इन प्राणियों की अंगुलियों की संख्या अवश्य ही आरम्भ से ही धीरे-धीरे कम होती गई होगी, यह स्पष्ट है। अर्थात् पहले तो पाँच अंगुलियों की चार अंगुलियाँ हुई होंगी, फिर बहुत समय बाद चौथी अंगुली धीरे-धीरे छोटी होते हुए अखीर में बिलकुल नहीं-सी रह गई होगी। इसी समय बीच की अंगुली को छोड़कर बाक़ी की अंगुलियों की लम्बाई भी क्रमशः कम होते हुए एकमात्र बीच की अंगुली ही धीरे-धीरे बढ़ती गई होगी। बीच की अंगुली की अपेक्षा बाक़ी अंगुलियाँ खण्डित होने से अवश्य ही वे ज़मीन पर टिकने के उपयुक्त नहीं रहीं। बीच की अंगुली बढ़ती चली जाने के कारण टखना ज़मीन से ऊंचे-से-ऊंचा होने लगा। इस क्रम से अन्त में शेष अंगुलियाँ नहीं-सी रह कर सिर्फ़ बीच की अंगुली बची और वह बहुत बड़ी हो गई। यह सब फेर-बदल होते समय टखना जैसे-जैसे ऊपर जाता गया वैसे-वैसे शरीर की ऊँचाई भी बढ़ती गई

और उसी परिमाण से दाँत आदि में भी फर्क हो गया। अतः घोड़े के विकास का यह जो क्रम दिया गया है वह बिलकुल ठीक न भी हो मगर यह कहने में कोई आपत्ति नहीं कि इसी तरह आज के घोड़े का विकास उसके मूल के पूर्वजों से हुआ होना चाहिए।

ऊपर दिये हुए क्रम से विकास हुआ हो तो ये बीच के, अर्थात् चार अंगुलियों वाले, तीन अंगुलियों वाले इत्यादि प्राणी पहले कहीं-न-कहीं पृथ्वी-तल पर अवश्य हो गये होने चाहिएँ; और यदि सचमुच वे पृथ्वी पर हुए हों तो उनके कुछ-न-कुछ अवशेष ठठरियों के रूप में हमें आज मिलने चाहिएँ। आश्चर्य की बात है कि इनके बहुत-से अवशेष हाल में मिले हैं। ये तमाम अवशेष खोज कर निकालने का बहुत-कुछ श्रेय अमेरिका के भूगर्भशास्त्री और प्राच्य-प्राणिशास्त्रियों को है। ये सब अवशेष खासकर अमेरिका में मिले हैं और कुछ दूसरे देशों में भी प्राप्त हुए हैं। इनपर से पता चलता है कि घोड़ों का पहले का बहुत-कुछ क्रम-विकास अमेरिका में ही हुआ होना चाहिए। परन्तु इसमें भी विशेष आश्चर्य की बात यह है कि जब अमेरिका-खण्ड का पता लगा तब वहाँ मूल के घोड़े बिलकुल भी नहीं मिले थे। इस समय अमेरिका में जो घोड़े हैं वे सब उपनिवेश बसाने वाले दूसरी जगहों से जो घोड़े ले गये उनसे पैदा हुए हैं।

इसपर से कहना होगा कि अत्यन्त प्राचीनकाल में अमेरिका में घोड़े जैसे प्राणियों और उनके पूर्वजों की बहुत आबादी थी और उनकी कुछ शाखायें वहाँ से एशिया, यूरोप आदि खण्डों में भी गई थीं। क्योंकि उस समय अमेरिका-खण्ड आज की तरह शेष दुनिया से पृथक् न होकर इस समय जहाँ प्रशान्त महासागर है उस रास्ते वह यूरोप व एशिया से जुड़ा हुआ था। पहले के इन घोड़ों का क्रम-विकास होते-होते कालान्तर में वे आज के घोड़ों की स्थिति में आ पहुँचे। परन्तु और भी कुछ समय बाद अमेरिका का जल-वायु एकदम ख़राब हुआ होगा, जो घोड़ों को बर्दाश्त न हुआ; इससे धीरे-धीरे अमेरिका से घोड़ों का नाम ही मिट गया। बाद में भूचाल से अथवा और किसी प्रकार अमेरिका-खण्ड पृथ्वी के अन्य भागों से भिन्न हो गया होगा; और जब फिर कालान्तर में वहाँ का जल-वायु घोड़ों के अनुकूल हुआ, तब इस खण्ड का सम्बन्ध शेष दुनिया से न रहने के कारण दूसरे भागों से वहाँ घोड़े जाने सम्भव न थे। अतः उपनिवेश बसानेवाले जहाज़ों पर जब उन्हें ले गये तो सहज ही वहाँ पर वे बढ़ गये। इस तरह सारी बात का स्पष्टीकरण हो जाता है।

इस समय अमेरिका के बहुत-से प्राच्य-प्राणि-संग्रहालयों में ये सब ३०—४० ठठरियाँ क़तारवार लगी रक्खी हैं। कोई

अशिक्षित मनुष्य भी उन्हें देखे तो विकासवाद पर उसे विश्वास हो जायगा। इन ठठरियों पर से घोड़ों के क्रम-विकास का बहुत-कुछ इतिहास हमें मिलता है। अतः अब संक्षेप में हम उस इतिहास पर विचार करेंगे। चित्र नं० २० में तुलनात्मक रीति से यह दिखलाया गया है कि घोड़े की ऊँचाई पहले से अब-तक कैसे-कैसे बढ़ती गई है।

ऊपर कहा गया है कि आजकल के घोड़ों के ठठरियों के रूप में मिलनेवाले बिलकुल प्राचीन काल के पूर्वज (Phenacodus), फीनॅकोड्स् थे। इसके बाद के घोड़े-सरीखे दीखनेवाले प्राणी हीरॅकोथेरियम (Hyracotherium) थे और उनके अवशेष लन्दन में मिले हैं। उसकी जाति के उसके आगे के घोड़े-जैसे प्राणी 'इओहिप्पस' (Eohippus) थे और ये यूरोप से उत्तर-एशिया के रास्ते अमेरिका गये हुए होने चाहिएँ—क्योंकि ऐसे ही प्राणियों के अवशेष अमेरिका में भी उसके समकालीन द्वीप में मिलते हैं। इन प्राणियों की ऊँचाई ११ फुट थी और फीनॅकोड्स् से इसकी प्रगति घोड़े की दिशा में खूब हुई थी। क्योंकि इसके आगे के पाँवों में चार ही अंगुलियाँ थीं और पीछे के पाँवों में तो तीन ही अंगुलियाँ रही थीं। मगर फिर भी इसमें आगे के पाँवों में अंगूठों के थोड़े से अवशेष रह गये थे। क्योंकि उनसे लगी हुई जो अंगुलियाँ थीं उनकी हड्डियों के

सिरों में एक बारीक-सी दरार होकर उनके दो भाग हो गये दीखते थे। सिर्फ पीछे के पाँवों में अंगूठों के नाम-निशान भी बिलकुल नहीं रहे थे; परन्तु उनमें, जैसा कि पहले देख चुके हैं, छोटी अंगुली के थोड़े से अवशेष रह गये थे। आगे-पीछे के मिलाकर चारों पाँवों में बीच की अंगुलियाँ दूसरी अंगुलियों की बनिस्बत बहुत बड़ी होगई थीं। अलावा इसके टखने की हड्डियाँ एक दूसरे से सुसम्बद्ध होने के कारण पाँवों में अधिक मज़बूती आगई थी।

इसके बाद के घोड़े प्रोटोहिप्पस (Protohippus) थे। ये पहलों की अपेक्षा २ इंच अधिक ऊँचे थे; अर्थात् इनकी ऊँचाई १४ इंच होगई थी। पाँवों की रचना पहले के जैसी ही थी; फ़र्क़ सिर्फ़ यह था कि इओहिप्पस में आगे के पाँवों के अंगूठों के जो अवशेष रहे थे वे इनमें नामशेष हो गये थे। तदुपरान्त ओलीगोसीन (Oligocene), मेसोहिप्पस (Mesohippus) और मायोहिप्पस (Miohippus)—एक से ये दो-तीन प्राणी हो गये। मेसोहिप्पस की ऊँचाई लगभग १८ इंच अर्थात् बकरी जितनी थी और उसके पाँवों की अंगुलियों में और भी क्रान्ति हो गई थी। उसके पीछे के पाँवों में यद्यपि पहले की तरह तीन ही अंगुलियाँ थीं, मगर आगे के पाँवों की चार अंगुलियों में की छोटी अंगुली गिर कर

(चित्र नं० २०) उसके अवशेष-मात्र रह गये थे। अर्थात् आगे-पीछे के चारों ही पाँवों में ३—३ ही अंगुलियाँ रह गईं थीं। इसके दाँत भी पहले की अपेक्षा अधिक मजबूत हो गये थे और उसी परिमाण से बीच की अंगुलियाँ अधिक मोटी हो गईं थीं। इसकी शेष अंगुलियाँ यद्यपि ज़मीन से लगतीं थीं तथापि शरीर का बहुत-कुछ भार बीच की अंगुलियों पर ही पड़ता था। मायोहिप्पस की रचना मेसोहिप्पस जैसी ही थी, परन्तु उसकी ऊँचाई क़रीब—क़रीब २ फ़ुट हो गई थी।

इसके बाद मायोसीन (Miocene) का युग आया। इस युग में भी घोड़ों की बहुत-सी क़िस्में हुईं। उनमें मेरिक्हिप्पस (Merichippus) और नियोहिप्पस (Neohippus) मुख्य हैं। इनमें पहले के पाँवों में पहलों की तरह तीन-तीन अंगुलियाँ थीं, परन्तु शेष दो अंगुलियाँ बहुत-कुछ खण्डित हो जाने के कारण उनमें से सिर्फ़ बीच की अंगुलियाँ जमीन पर टिकती थीं। इसके दाँत भी ज्यादा मजबूत थे, और इसकी ऊँचाई ३ फ़ुट थी। आगे की क़िस्म क़रीब-क़रीब इसके समान ही थी।

इसके बाद का युग प्लियोसीन (Pliocene) युग है। इस युग में भी पहले के समान तीन-तीन अंगुलियों वाले घोड़ों की अनेक क़िस्में मिलती हैं। परन्तु इस युग के अख़ीर-अख़ीर में बिलकुल आज के घोड़ों के जैसे घोड़े भी बहुत मिलते हैं। इनमें

से प्लिओहिप्पस (Pliohippus) की ऊँचाई ४ फुट थी और उसके चारों पाँवों में सिर्फ बीच की ही अंगुलियाँ रह गई थीं और वे पूर्वापेक्षा बहुत मोटी हो गई थीं। शेष दो अंगुलियों के अवशेष भी कुछ-कुछ रह गये थे। अर्थात् यह घोड़ा हूबहू आज के घोड़ों के समान था, यह कहा जा सकता है। इस समय घोड़े का विकास क़रीब-क़रीब पूरा हो गया। क्योंकि इसके बाद घोड़े की ऊँचाई में यद्यपि थोड़े-बहुत फ़र्क़ हुए तथापि शेष आकार तो जैसा का तैसा ही रहा। इसके बाद के युग में यूरोप, एशिया इत्यादि स्थानों में आज के घोड़ों की सी शरीर-रचना वाले घोड़ों की ठठरियाँ बहुत मिलती हैं। परन्तु सिर्फ अमेरिका में घोड़ों का पता बिलकुल नहीं लगता। इसपर से यह अनुमान निकलता है कि इस प्लियोसीन-युग के अखीर-अख़ीर में अथवा इसके बाद के युग में अमेरिका का जल-वायु बदल कर वह घोड़ों के लिए असह्य होगया और उसके सबब वहाँ के घोड़े नष्ट हो गये होंगे। इसीलिए यूरोपीय लोगों के इसके बाद अमेरिका जाकर वहाँ यूरोप से घोड़े ले जाने तक अमेरिका में घोड़ों का बिलकुल नाम-निशान न था।

घोड़े के क्रम-विकास का यह जो संक्षिप्त इतिहास दिया गया है, वह काल्पनिक नहीं है; बल्कि उस-उस युग के भूभागों में ऐसी जो ठठरियाँ मिली हैं उनपर से विकासवादियों ने तैयार किया है।

घोड़ों में यह जो फ़र्क अत्यन्त प्राचीन काल से आज पर्यन्त होता गया वह कितना धीरे धीरे हुआ होगा, इसकी कल्पना इसपर से सहज ही होगी कि इस तमाम परिवर्त्तन में कम-से-कम ५० लाख वर्ष लगे होने चाहिएँ। इस क्रम-विकास का सामान्य कारण मानों आस-पास की परिस्थिति में होने वाले फेर-बदल ही हैं। इन तमाम युगों में पृथ्वी के वातावरण और पृष्ठ भाग में एकसे बनाव-सुधार जारी थे। इसके फल-स्वरूप जो-जो नई परिस्थिति उत्पन्न होती जाती थी उसका मुक़ाबला करने के उपयुक्त फेर-बदल प्राकृतिक चुनाव के तत्त्वानुसार उस-उस समय के घोड़ों के पूर्वजों में साथ-साथ होते गये। विशेषत: पहले जो दलदल और बड़े-बड़े अरण्य थे वे मिटकर उनकी जगह नीलसरोवर हो गये। तदुपरान्त जैसे-जैसे वातावरण में खुश्की बढ़ती गई उसीके अनुसार धीरे-धीरे गीली घास सूखने लगी। इस सारी परिस्थिति का सामना करके उसमें निभ जाने के उपयुक्त फेर-बदल उस समय के घोड़ों में दोनों दिशाओं से होगये। एक पाँवों में और दूसरे दाँतों में। पहले के दलदल और अरण्य न रहनेसे अवश्य ही शत्रु से बचने का एक सुलभ साधन जाता रहा और फलस्वरूप सख्त जमीन पर तेज़ चलने की आवश्यकता अधिक महसूस होने लगी। इससे पहले की पाँच अंगुलियाँ धीरे-धीरे मिट कर अन्त में एक अंगुली बच रही।

साथ ही इसके पाँवों की सन्धियों की हड्डियाँ एक-दूसरे से मज़बूती के साथ जमी होने के सबब पाँव अधिक मज़बूत होकर उनमें दौड़ने की शक्ति अधिक आई। इसी प्रकार पहले का भोजन बदलने के सबब दाँत और गर्दन में भी परिवर्त्तन हुआ। अब खड़े होकर घास खाने के लिए ज़मीन तक झुक सकें, इसके लिए गर्दन धीरे-धीरे लम्बी होती गई। इसी प्रकार घास पचने के लिए अच्छी तरह चबाने की ज़रूरत अधिक महसूस होने लगी और इसके लिए दाँत भी अधिक मज़बूत होते गये। इसके साथ-साथ बीच की अंगुलियाँ बढ़ती जाने के सबब शरीर की एकत्र ऊँचाई भी बढ़ती जाकर आज जितनी होगई और तदनुसार शरीर का एकत्र आकार भी बढ़ा। इस प्रकार अबतक घोड़े का यह क्रम-विकास हुआ है।

अन्त में सिर्फ़ एक बात कहनी है। वह यह कि घोड़े के क्रम-विकास का जो संक्षिप्त इतिहास दिया गया है वह दूसरे इतिहासों की तरह कोई उस-उस समय किसीने लिख कर नहीं रख दिया था। उस समय पृथ्वी पर मनुष्य का तो अवतरण भी न हुआ था। तब जिस प्रकार प्राचीन अर्थात् मिस्र इत्यादि देशों के इतिहास-सम्बन्धी बहुत-सी बातों का अनुमान प्राचीन वस्तुओं की शोध से लगाया जाता है उसी प्रकार यह जानकारी प्राचीन प्राणियों की शोध करके निकालनी पड़ती है। प्राचीन वस्तुओं की

शोध से हम जो अनुमान निकालते हैं वे अक्षर-अक्षर बिलकुल सही ही होंगे, ऐसा कोई शास्त्रज्ञ नहीं कहते। फिर इसमें तो प्राचीन प्राणियों की भी शोध होती है। प्राचीन वस्तुओं की शोध में तो बहुत हुआ तो ५-१० हजार वर्षों के इतिहास का विचार किया जाता है; परन्तु इसमें तो यथा-संभव पृथ्वी के आरम्भ से लेकर अबतक क्या-क्या परिवर्तन हुए होंगे, यह सब देखना होता है—और यह काल ५-१० हजार वर्षों से कितने गुणा अधिक है! अलावा इसके मरे हुए प्राणियों के अवशेष ठठरियों के रूप में रहना भी कितनी मुश्किल बात है, यह हम प्राच्य-प्राणि-शास्त्र का कुछ विचार करते समय दूसरे अध्याय में देख ही चुके हैं। इन सब बातों का विचार करने पर पाठकों के ध्यान में यह बात अवश्य आयगी कि मोटे तौर पर भी इस इतिहास के लिखने का काम कितना मुश्किल है। फिर ऊपर दी हुई घोड़ों के पूर्वजों सम्बन्धी जानकारी अत्यन्त संक्षिप्त ही है, यह हमें न भूलना चाहिए। इनमें के किन्हीं-किन्हीं पूर्वजों का आजकल के घोड़ों से सखा-सम्बन्ध था। कदाचित् वे इनके नजदीकी अथवा इससे भी पहले के घरानों में हो सकते हैं। परन्तु इसपर से ऊपर दी हुई सर्व-सामान्य विचार-शैली में विशेष अन्तर पड़ने का भय नहीं है क्योंकि इसपर से आसानी के साथ यह कहा जा सकता है कि घोड़ों का यह क्रम-विकास

किस प्रकार हुआ; और हमारे लिए अभी इतना ही कहना काफ़ी है। अस्तु।

घोड़ों की तरह ही हाथी और ऊँट का भी पूर्व-वृत्तान्त अत्यन्त संक्षिप्त रूप से दिया जाता है और उसका निष्कर्ष भी यह-का-यही है। पर इन प्राणियों की ठठरियाँ अभीतक बहुत थोड़ी मिली होने से अभी भी उनके विकास की जानकारी घोड़ों के विकास की जानकारी की अपेक्षा बहुत ज्यादा संक्षिप्त है। इसीलिए हमने भी यहाँ पर उसका विशेष विचार नहीं किया है।

७
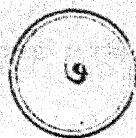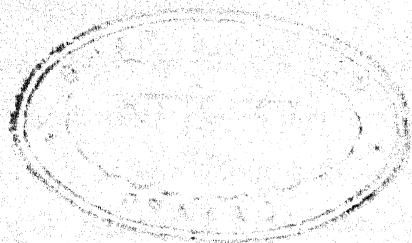
मनुष्य का विकास

अबतक हमने विकास के सम्बन्ध में जो विचार किया वह (पिछले अध्याय को छोड़ कर) किसी एक विशिष्ट प्राणी के सम्बन्ध में नहीं बल्कि सामान्य-रूप में ही किया; और उसपर से हमनें यह देखा कि जो प्रमाण हमें मिलते हैं उन सबको देखते हुए, तर्क-शास्त्र की दृष्टि से, यह कल्पना ठीक नहीं है कि आज हमें जो प्राणी और वनस्पति दिखाई पड़ते हैं वे सब सृष्टि के आदिकाल से आज-पर्यन्त ऐसे के ऐसे ही चले आ रहे हैं। ऐसी दशा में निस्सन्देह यही उपपत्ति शेष रहती है कि ये प्राणी या वनस्पति पहले के बिलकुल सादे प्राणियों या

वनस्पतियों से क्रम-पूर्वक विकास करते आये होंगे और इसीको हमने स्वीकार किया है।

एक ही जाति के जंगली घोड़े से आजकल के घोड़ों की सब जातियाँ उत्पन्न हुईं, अथवा आजकल के आम्र-वृक्षों की क़िस्में पहले के जंगली हालत में होने वाले एक वृक्ष से पैदा हुईं, यह कहना एक बात है; और बन्दर से, अथवा दूसरे किसी जानवर से मनुष्य का विकास हुआ, यह कहना दूसरी बात है। वस्तुतः यह बात कदापि नहीं भुलाई जा सकती कि मनुष्य कितना ही सुधरा हुआ हो, कितना ही बुद्धिमान हो, और उसमें इतर प्राणियों से कितना ही फ़र्क़ क्यों न हो, मगर आख़िरकार वह है एक तरह का प्राणी ही। यह बात यदि सत्य है तो फिर विकासवाद का जो सिद्धान्त सारे वनस्पतियों और प्राणियों पर एकसाँ लागू होता है मनुष्य-प्राणी ही अकेला उसका अपवाद कैसे होगा? सारे प्राणियों का जब क्रम-विकास हुआ है तो मानव-जाति का भी क्रम-विकास क्यों नहीं हुआ होगा? जब घोड़े की सब जातियाँ पहले की एक ही जाति से पैदा हुईं, यही नहीं बल्कि इससे भी आगे बढ़कर हम ऐसा कहते हैं कि घोड़ा, गधा, जिराफ़, ज़ेब्रा इत्यादि एक-दूसरे से मिलते-जुलते तमाम प्राणियों के पूर्वज एक ही थे, तब फिर समस्त मनुष्यों के पूर्वज भी एक ही होने चाहिएँ; और क्योंकि मनुष्य बन्दर से बहुत मिलता-जुलता है, इस-

लिए ये पूर्वज बन्दर ही होने चाहिएँ, यह कहना क्या गलत है ? तर्क-शास्त्र की दृष्टि से ये दोनों बातें समान ही हैं; फिर जब हम यह मानते हैं कि इनमें की एक बात सच है, तो हम यह कैसे कह सकते हैं कि दूसरी बात शक्य या संभवनीय तक नहीं है ? जिस गुरुत्वाकर्षण के योग से ऊपर फेंकने पर भी पत्थर नीचे आ पड़ता है, अथवा पक जाने पर फल वृक्ष से नीचे गिर पड़ता है, उसी तत्त्व के कारण समस्त ग्रह-मण्डल सूर्य के आस-पास फिरता रहता है—फिर वे ग्रह गेंद या फल की अपेक्षा कितने ही बड़े क्यों न हों, इससे हमें कोई मतलब नहीं। इसी प्रकार विकासवाद का जो सिद्धान्त समस्त जीव-सृष्टि पर लागू होता है वह मनुष्य-प्राणी पर भी लागू होना चाहिए।

उपर्युक्त विचार-शैली ठीक हो तो भी बहुतों को शुरू-शुरू में वह स्वीकार करने योग्य मालूम नहीं पड़ती। इसीलिए वे कहते हैं कि मनुष्य के विकास का प्रश्न शेष जीव-सृष्टि के विकास से बिलकुल स्वतंत्र है; और बन्दर से अथवा मनुष्य से जो नीचे दर्जे के हैं ऐसे किसी भी प्राणी से विकासवाद के द्वारा उसकी उत्पत्ति होने की बात बिलकुल असंभव है, यह वे इस सम्बन्ध में जो कुछ प्रमाण हैं उन्हें देखने की झंझट में न पड़कर पहले से ही प्रतिपादन करते हैं। इसका कारण शायद उनके पूर्वग्रह और अन्धश्रद्धा ही है। किसी मनुष्य से यह कहो कि तू

बन्दर है, या बन्दर से पैदा हुआ है, तो उसे सहज ही बुरा मालूम होता है। हलवाइयों के घरों पर तुलसी-पत्र रखने में कोई नहीं सकुचाता; परन्तु यही बात उनके घर के लिए कहो तो बहुत कम लोग स्वीकार करेंगे। इसी प्रकार यह बात स्वीकार करने में हमें कोई हलकापन नहीं मालूम पड़ता कि अमुक प्राणी ऐसे प्राणियों से पैदा हुए हैं कि जो उससे नीचे दर्जे के हैं; परन्तु हम स्वयं पशुओं से उत्पन्न हुए हैं, यह कहना हमें अत्यन्त अपमान-पूर्ण मालूम होता है। इसमें कोई नवीनता नहीं, यह मनुष्य-स्वभाव के अनुकूल ही है।

इस पूर्वग्रह के कारण मनुष्य के विकास के सम्बन्ध में पहले बड़ा विवाद मच रहा था और अभी भी वह थोड़ा-बहुत मौजूद है। पहले अध्याय में विकास-सम्बन्धी इतिहास देते हुए यह बतलाया ही जा चुका है कि विकास का प्रश्न डार्विन की 'जातियों का मूल' पुस्तक लिखी जाने के बाद सन् १८४९ में प्रमुखता के साथ आगे आया है। इसके बाद सन् १८६३ में हक्सले ने 'सृष्टि में मनुष्य का स्थान' (Man's place in nature) पुस्तक लिखकर उसमें इस तत्त्व का निर्भयता के साथ प्रतिपादन किया कि मनुष्य-प्राणी बन्दर से उत्पन्न हुआ है। इसके ७–८ वर्ष बाद डार्विन ने 'मनुष्य की उत्क्रान्ति' (Descent of man) नाम की पुस्तक प्रकाशित की, उसमें अध्यापक

हक्सले की तरह परन्तु जरा विस्तार के साथ विकासवाद का सिद्धान्त मनुष्य-जाति पर लागू करके इस उपपत्ति को दृढ़ किया कि मनुष्य का विकास बन्दर से हुआ है।

तबसे अबतक इस सम्बन्ध में अनेक विवाद उठ चुके हैं और आजतक भी इसका सर्व-सम्मति से समाधान-कारक हल नहीं लगा है। इस विवाद के अनेक कारण हैं। इनमें से यह एक कारण ऊपर दिया ही है कि हममें एक ऐसा पूर्वग्रह है कि इस उपपत्ति से हममें एक तरह की भिन्नता आती है। इसीलिए यह न समझकर कि डार्विन का कहना क्या है, शुरू-शुरू में उसके विरोधियों ने उसके साथ खूब शरारतें कीं। परन्तु अकारण चलने वाली ये शरारतें ज्यादा दिन तक न टिक सकीं। उत्तरोत्तर इस वाद का जरा भिन्न स्वरूप होता गया। इस वाद के सिलसिले में दोनों ओर से कैसी-कैसी ग़लतियाँ हुई और क्या-क्या दृश्य सामने आये, कुछ बोधप्रद होने के कारण, संक्षेप में यहाँ हम उसका इतिहास देते हैं।

इस वाद के मूल में जो कारण थे वे भी कोई नये न थे। जिस कारणवश मार्टिन लूथर के ईसाई-धर्म में नवीन प्रोटेस्टेण्ट-पंथ निकालने तक समस्त यूरोप-खण्ड अज्ञान की कीचड़ में फँस रहा था, इस विवाद के मूल में भी वही कारण था। यह कारण मानों उस समय के सामान्य और शिक्षित लोगों का धार्मिक

भोलापन, अन्ध-श्रद्धा और यूरोप में पोप तथा उनके अनुयायियों का वर्चस्व था। पोप तथा उनके रोमन कैथलिक अनुयायियों का उस समय इतना उपद्रव मच रहा था कि उसके कारण यूरोप में बुद्धि-स्वातंत्र्य क़रीब-क़रीब नष्ट हो गया था, यह कहें तो भी बिलकुल अतिशयोक्ति न होगी। उनमें कोपरनिकस या गैलिलियो सरीखे स्वतंत्र विचारों के कोई मनुष्य हुए भी तो उनके साथ अत्यधिक अत्याचार हुआ। इसका कारण यह है कि पहले की धर्म-पुस्तकों में जो बातें लिखी थीं, अथवा पहले के लोगों में सृष्टि-विषयक जो पुरानी-धुरानी मान्यता थी, उसके विरुद्ध ये लोग बोलने और लिखने लगे। पहले यह मान्यता थी कि सूर्य और समस्त तारागण पृथ्वी के आस-पास फिरते हैं। गैलिलियो ने अपने सूक्ष्मवीक्षण यंत्र की सहायता से सप्रमाण यह सिद्ध किया कि नहीं, पृथ्वी सूर्य के आस-पास फिरती है; और कोपरनिकस का समर्थन करके खुले आम कालेज में अपने शिष्यों को यह बात सिखलाने लगा। इससे पहले की असत्य कल्पना और ग़लत मान्यता वस्तुतः बदलनी चाहिए थी। परन्तु उसका बदलना तो दूर, उलटे गैलिलियो पोप तथा उनके अनुयायियों की अदालत के सामने दोषी ठहरा और उसे जेलख़ाने जाना पड़ा। यही नहीं बल्कि भरी अदालत में उसे यह भी लिखकर देना पड़ा कि मैंने जो मत ज़ाहिर किया वह ग़लत है।

इसी प्रकार बाइबल में लिखा है कि सृष्टि के आरम्भ में परमेश्वर ने समस्त प्राणियों का निर्माण किया; और विकासवादियों का कथन इसके बिलकुल विपरीत है—अर्थात्, उनका कहना है कि ये प्राणी प्रारम्भ ही से स्वतंत्र निर्मित नहीं हुए। इसलिए विकासवादियों के दुर्भाग्य से अवश्य ही बाइबल के ये वाक्य उनके प्रतिकूल हुए और इस प्रकार इस झगड़े की शुरुआत हुई। शुरू-शुरू में इस झगड़े में एक तरफ़ तो प्राचीन धर्म के कट्टर अभिमानी और दूसरी तरफ़ बुद्धि-स्वातंत्र्य के इच्छुक वनस्पतिशास्त्री और प्राणिशास्त्री थे। झगड़े के सिलसिले में जो वाग्युद्ध हुए, उनके अन्दर इङ्गलैण्ड में हक्सले ने और जर्मनी में हेकेल ने ख़ूब पराक्रम दिखाया। इस वाद-विवाद में प्रतिपक्षियों की ओर से कई बार इतनी ना-समझी की बातें होती थीं कि हमें उनपर हँसी आये बिना नहीं रहती। इसका एक उदाहरण यहाँ दिया जाता है। एक सभा में हक्सले मनुष्य के विकास पर भाषण कर रहे थे कि विलबरफ़ोर्स नामक बिशप ने बड़े तिरस्कार और उद्धतता के साथ पूछा—'हमारा और बन्दरों का सम्बन्ध माँ-बेटे का है या बाप-बेटे का?' और इसपर उसकी ख़ूब वाह-वाह हुई। परन्तु हक्सले भी कुछ कम न थे। उन्होंने जैसा का तैसा जवाब देकर विलबरफोर्स को खामोश कर दिया। हक्सले ने कहा, "बन्दर मेरे पूर्वज थे, यह स्वीकार करने में मुझे रञ्चमात्र निम्नता नहीं मालूम पड़ती; उलटे

मुझे कोई न्यूनता मालूम पड़ती है तो वह मात्र यही स्वीकार करने में मालूम पड़ती है कि विलबरफ़ोर्स सरीखे दाम्भिक, जिस बारे में हमें कुछ भी समझ नहीं पड़ता उसमें सर्वज्ञता का दम भरने वाले और एकाध बात का खण्डन केवल असम्बद्ध वाक्-पाण्डित्य से करने वाले धर्मगुरु के वंशज हैं !" मतलब यह कि इन पादरियों को यह भय हुआ कि विकासवाद से बाइबल पर और उसके कारण ईसाई-धर्म पर आफ़त आयगी और इसलिए उनका सारा प्रयत्न इस तत्त्व को गिराने के ही उद्देश्य से हुआ।

मगर कुछ भी क्यों न हो, कितना ही समय क्यों न लगे, पर अन्तमें सत्य ही की विजय होती है। 'सत्यमेव जयते नानृतम'। इन पादरियों का सारा वाद प्रारम्भ में केवल शाब्दिक था, जबकि विकासवादियों का सारा आधार प्रत्यक्ष प्रमाणों पर था। इसी-लिए-प्रत्यक्ष प्रमाणों के सामने शाब्दिक प्रमाण पीछे रह गये और विकासवाद का सामान्य तत्त्व सब ओर रूढ़ हो गया। परन्तु इस वाद के सिलसिले में विकासवादियों की ओर से भी कुछ ग़लतियाँ हुईं और उनका होना स्वाभाविक था। विकास के सम्बन्ध में ऐसे प्रमाण बहुत कम मिलते हैं कि जिन्हें हम प्रत्यक्ष कह सकें, यह इन प्रमाणों के सम्बन्ध में विचार करते समय (दूसरे अध्याय में) हम देख ही चुके हैं। परन्तु इसके

सम्बन्ध में अप्रत्यक्ष प्रमाण बड़े जबर्दस्त हैं और उनपरसे हम यह अनुमान निकालते हैं कि विकास होना चाहिए। लेकिन बाद के सिलसिले में इस बात को भूलकर हक्सले और हेकेल ने कहीं-कहीं यह प्रतिपादन किया है कि विकास के ऐतिहासिक प्रमाण हैं। हेकेल ने तो मनुष्यों के पूर्वजों की वंशावली तैयार करके उसमें बन्दर से लेकर होते-होते अन्त में बिलकुल सादा यानी एक कोशवाले प्राणियों तक की माला गूंथी है। मतलब यह कि आजकल उपलब्ध प्रमाणों पर से जो अनुमान निकाला जा सकता है, उसका उसने कहीं-कहीं अतिक्रम कर डाला है। परन्तु 'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः' वचन के अनुसार इस वाद-विवाद का सत्यान्वेषण के काम में बड़ा उपयोग हुआ। कारण यह कि इन प्राचीन धर्माभिमानियों को जब यह प्रतीत होने लगा कि हमारा शाब्दिक प्रमाण नहीं टिकता, तब उनकी यह बात स्वयं उन्हें ही जरा अखरने लगी; और इसका परिणाम यह हुआ कि उन्होंने केवल शाब्दिक वाद-विवाद करना बन्द करके प्राणिशास्त्र और वनस्पतिशास्त्र का अभ्यास शुरू किया और सबसे पहले विकास-वादियों के कथन को भलीभांति समझा। निस्सन्देह इससे उनमें विकासवादियों की सप्रमाण आलोचना करने की पात्रता आगई और इसका परिणाम यह हुआ कि इन लोगों को भी सामान्यतः विकासवादियों का कथन मान्य हो गया। साथ ही

इसके विकासवादियों ने इस वाद के सिलसिले में जो कुछ कम-ज्यादा अनुमान निकाले थे उनपर ये लोग टीका करने लगे और इससे इन लोगों का भी इसकी सत्यता की खोज करने में उपयोग हुआ।

इस प्रकार अब इस वाद का जो स्वरूप होगया है उसमें से पहले का धर्मोन्माद बहुत-कुछ मिट गया है, यह कहा जा सकता है। परन्तु इतना होने पर भी इस वाद में पक्षपात आज भी बहुत अधिक परिमाण में शेष रह गया है, यह मानना पड़ेगा। विकासवाद पर कोईसी भी पुस्तक लें तो उसमें इस पक्षाभिमान की थोड़ी बहुत छाया दिखाई दिये बिना नहीं रहती। जैसा कि एक जगह पहले कहा जाचुका है, यद्यपि बहुत से लोगों का 'विकास की उत्पत्ति' पर 'विकासवाद' ही एक मत हो गया है, फिर भी विकास के कारणों के सम्बन्ध में उनमें जो मत-विभिन्नता है उसके कारण अनेक पन्थ बन गये हैं और उसी प्रकार इस प्रश्न पर भी बहुत-कुछ मतभेद है कि क्रम-विकास की व्याप्ति कहाँ तक है। विकासवाद के कारणों की मीमांसा करते हुए डार्विन ने प्राकृतिक चुनाव उसका मुख्य कारण बताया है, यह पहले कहा ही जा चुका है। एक पंथ तो उन लोगों का है जिन्हें डार्विन का यह मत ग्राह्य है और इसमें बहुत से प्रमुख प्राणिशास्त्री सम्मिलित हैं। पर कईयों के मतानुसार डार्विन की यह उपपत्ति सर्वथा ग़लत है,

यद्यपि ऐसों की संख्या बहुत नहीं है। कईयों को डार्विन का कहा हुआ व्यक्ति-व्यक्ति में होने वाला बिलकुल छोटा और क्षुद्र फर्क क्रम-विकास के अनुपयुक्त प्रतीत होता है और उनके मतानुसार कभी-कदास कुछ व्यक्तियों में एकदम जो बहुत बड़े फर्क (Mutation) दिखाई पड़ते हैं उनपर ही विकासवाद का आधार है। परन्तु इस वाद की कुछ चर्चा पीछे पाँचवें अध्याय में की गई है और यहाँ उससे अधिक चर्चा करना थोड़ा उर्बोध होगा, इसलिए हम उसे छोड़ देते हैं। अस्तु। विकास की व्याप्ति के सम्बन्ध में कुछ लोगों का ऐसा मत है कि समस्त प्राणी मूल में किसी बिलकुल सादा प्राणी से उत्पन्न हुए, जब कि कुछ के मतानुसार सृष्टि के आरम्भ में ५–१० प्रकार के प्राणियों का ईश्वर ने निर्माण किया और आज तक दिखाई देने वाले प्राणियों के जो खास-खास गुट हैं उनमें से प्रत्येक इन भिन्न-भिन्न प्राणियों का क्रम-विकास होकर उससे पैदा हुआ है; और ये लोग यह दिखाने का प्रयत्न करते हैं कि बाइबल में जो उत्पत्ति का वर्णन है उसका विकासवाद से बिलकुल विरोध नहीं है। क्योंकि, उनके मतानुसार, 'आरम्भ में परमेश्वर ने पृथ्वी और स्वर्ग का निर्माण किया' (In the beginning God created the heaven and earth) बाइबल के इस शब्द का आशय यह नहीं है कि पृथ्वी के आरम्भ में ईश्वर ने आज दिखाई देने वाले समस्त प्राणियों का

निर्माण किया; बल्कि यह है कि ऊपर कहे अनुसार १०-२० प्रकार के प्राणी ही उस समय उसने उत्पन्न किये और फिर उनका क्रम-विकास होते-होते उनसे आज दिखाई देने वाले प्राणियों की सब जातियाँ पैदा होगईं। उलटे उन लोगों को कि जिनके मतानुसार समस्त प्राणियों ने मूल में बिलकुल सादा प्राणी से क्रम-विकास किया, ये लोग नास्तिक कहते हैं; और उन लोगों पर यह आक्षेप करते हैं कि उनके मत से जगत् की उत्पत्ति से ईश्वर का कोई सम्बन्ध नहीं है, सब बातों की उपपत्ति इन नास्तिकों ने विकासवाद के ही योग से अर्थात् केवल प्राकृतिक तौर पर ही लगाई है, और इसलिए उनके मत ईसाई-धर्म के विरुद्ध एवं त्याज्य हैं। परन्तु विचार करने पर मालूम होगा कि यह आक्षेप जरा भी युक्तियुक्त नहीं है। यही आक्षेप गैलिलियो पर भी था, और यही आक्षेप समस्त आधिभौतिक शास्त्रियों पर भी लगाया जाता है। आधिभौतिकशास्त्रों में जब-जब कार्यकारण-सम्बन्ध शोध कर निकालना होता है तब-तब जो प्रचलित होता हो वह तो ईश्वरीय अथवा दैवी शक्ति या इच्छा में आने को नहीं, जो प्रचलित हो तो प्राकृतिक तौर पर ही उपपत्ति लगाई जाय, यह सामान्य परिपाठ है; और इसीलिए उस शास्त्र की एकसाँ प्रगति होती है। परन्तु उसपर यह आक्षेप कैसे किया जा सकता है कि सारे आधिभौतिकशास्त्री नास्तिक हैं ? कारणों

से मिलनेवाले प्रमाण इतने जोरदार हैं कि आखिर इस पक्ष वालों को यह बात माननी ही पड़ी। परन्तु इस स्वाकृति में भी उन्होंने एक चाल चली। वह इस प्रकार कि, उनके मतानुसार, इन शास्त्रों से मिलने वाले प्रमाणों से बहुत हुआ तो इतनी बात सिद्ध हो सकती है कि मनुष्य का शरीर बन्दर के शरीर से विकसित हुआ होगा। परन्तु आगे उन लोगों का ऐसा कहना है कि मानव प्राणियों के विकास पर विचार करें तो केवल उनके शरीरों का विचार करने से काम नहीं चल सकता। उनके मतानुसार मनुष्यों में और दूसरे प्राणियों में बड़े फ़र्क़ हैं और सबसे बड़ा फ़र्क़ यह है कि मनुष्य को बुद्धि और मन प्राप्त है, जब कि पशुओं में वह नहीं है। इस बुद्धि के कारण मनुष्य विचार कर सकता है। बाह्य इन्द्रियों का सब व्यापार बन्द करके आँखें मीचकर जागृत रहते हुए मनुष्य घण्टों मानसिक एवं बौद्धिक व्यवसाय में व्यस्त रह सकता है। मनुष्य को इच्छा-स्वातंत्र्य प्राप्त है। बुद्धि के कारण उसे विद्या, धर्म, नीति इत्यादि बातों की जरूरत है। इसके विपरीत पशु में बुद्धि बिलकुल नहीं है। बुद्धि के अभाव से बाह्येन्द्रियों के अलावा उपर्युक्त कोई भी मानसिक क्रिया वे नहीं कर सकते। उदाहरणार्थ, कोई कुत्ता आँख मीचकर घण्टों यह विचार नहीं कर सकता कि सुबह हमें क्या करना है। बुद्धि के अभाव से पशु अपने मनोविकार मनुष्य की नाईं वाणी द्वारा

भाषा के रूप में प्रकट नहीं कर सकता। ऐसी हालत में जब मनुष्य के विकास का विचार किया जाय तब उसके मन और बुद्धि का भी विचार करना आवश्यक ही नहीं बल्कि अत्यावश्यक है। और जानवरों में जब बुद्धि ही नहीं तब बुद्धि-हीन पशु से बुद्धि-युक्त मनुष्य का क्रम-विकास कैसे हो सकता है? इनके मतानुसार मनुष्य का विचार करने में केवल उसके शरीर का विचार करना मानों अन्धे से यह पूछना है कि उसे हाथी कैसा लगता है? जिस अंधे के हाथों में हाथी के कान लगेंगे वह कहेगा कि हाथी सूप-जैसा है, और जिसके हाथ उसकी पूँछ आयगी वह कहेगा कि हाथी रस्सी-जैसा है। मतलब यह कि, इन लोगों का कहना है, मनुष्य के क्रम-विकास का विचार केवल प्राणिशास्त्र के द्वारा हर्गिज नहीं हो सकता; उसके साथ-साथ तत्त्वज्ञान और मानसशास्त्र को भी संयुक्त करना चाहिए। मनुष्य के क्रम-विकास का विचार केवल प्राणिशास्त्र के अनुसार करने से मनुष्य एक ऊँचे दर्जे का प्राणी ठहरेगा और फिर मनुष्य की धर्म, नीति इत्यादि की सब ऊँची भावनायें झूठी ठहरेंगी। अतएव इस प्रकार मनुष्य के क्रम-विकास का विचार करना मूर्खता होगी।

विकासवादी इस विचार-शैली का उत्तर इस प्रकार देते हैं कि मनुष्य में ही उतनी बुद्धि है और जानवरों में नहीं, यह बात

साफ़ ग़लत है। कितने ही जानवर सरकस में कितने विलक्षण-विलक्षण काम, शिक्षण और संचय के संस्कारों से, करके दिखाते हैं, इस बात पर ध्यान रखते हुए यह कैसे कहा जा सकता है कि पशुओं में बुद्धि नहीं है? अलावा इसके पशुओं में अपने बच्चों के प्रति ममता हमसे भी कुछ ज्यादा ही है, और उनमें बुद्धि भी हमारी अपेक्षा कई गुणा अधिक ही होती है। धर्म, नीति इत्यादि उच्च भावनाओं की बात लें तो अत्यन्त जंगली अवस्था में रहनेवाले मनुष्यों में इस विषयक कितना अज्ञान होता है, यह हममें से जिन्होंने उन लोगों के बारे में अध्ययन किया है उनके लेखों पर से समझा जा सकता है। ऐसी दशा में मनुष्य की बुद्धि अथवा मन पशु के मन अथवा बुद्धि से अत्यन्त भिन्न हैं, यह कहने की ज़रा भी आवश्यकता नहीं। तब मनुष्य की बुद्धि अथवा मन पशु की बुद्धि अथवा मन की अत्यन्त परिणत अवस्था है, यह मानना मानों इस बात को स्वीकार करना है कि मनुष्य के शरीर के अनुसार उसके मन का भी क्रम-विकास पशु से होना ज़रा भी असम्भव नहीं है।

इस तरह का वाद इन दोनों पक्षों में मनुष्य के मानसिक विकास के सम्बन्ध में है, जिसका यहाँ सिर्फ़ उल्लेख किया गया है। चूँकि आगे मनुष्य के मानसिक क्रम-विकास के सम्बन्ध में ज़रा विस्तार के साथ विचार किया जायगा, इसलिए अभी तो

इस विवादास्पद प्रश्न को एक तरफ ही रखकर हम इस बात पर विचार करेंगे कि मनष्य के शरीर का विकास पशु के शरीर से होने की जो बात हम कहते हैं उसके लिए हमारे पास प्रमाण क्या हैं।
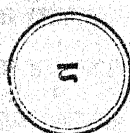
मनुष्य और बन्दर

पिछले अध्याय में मनुष्य के क्रम-विकास की जो प्रास्ताविक विवेचना की है, उसमें यह बात आही गई है कि कुछ लोगों के मतानुसार मनुष्य के शरीर के साथ उसके मन का भी विचार किया जाना चाहिए; परन्तु साथ ही यह भी कहा गया है कि अभी इस बात को एक तरफ़ छोड़कर प्रारम्भ में हम उसके शरीर का ही विचार करेंगे। अस्तु।

मनुष्य-शरीर के क्रम-विकास के सम्बन्ध में जो प्रमाण उपलब्ध हैं, वे—जैसा कि पहले अध्याय में कहा जा चुका है—खासकर शरीरशास्त्र, गर्भशास्त्र और प्राच्य-प्राणिशास्त्र में ही

मिलते हैं। अतः इन प्रत्येक शास्त्रों में मिलनेवाले प्रमाणों का हमें क्रम-पूर्वक विचार करना चाहिए।

इन सब प्रमाणों पर विचार करके अनेक प्राणिशास्त्रियों ने यह निश्चय किया है कि हमारे पूर्वज अवश्य ही बन्दर-जैसे कोई प्राणी होने चाहिएँ। बन्दर और मनुष्य में जो विलक्षण साम्य है, वह किसी अनाड़ी मनुष्य से भी छिपा नहीं रह सकता। जिसे विकासवाद की ज़रा भी जानकारी न होगी, उसके मन में भी इस विलक्षण साम्य को देखकर यह कल्पना उठे बिना न रहेगी कि इन दोनों प्राणियों—मनुष्य और बन्दर—में कुछ-न-कुछ सम्बन्ध होना चाहिए। यह कहा जा सकता है कि चूँकि तुम्हारे पहले से ही ऐसे विचार हैं और तुम्हें विकासवाद का ज्ञान है, इसीलिए तुम ऐसी कल्पना की बात सोचते हो। परन्तु जब यह ज्ञात होगा कि जंगली लोगों तक में यह कल्पना मौजूद है कि बन्दर व मनुष्यों के दर्मियान कुछ-न-कुछ सम्बन्ध है, तब इस आक्षेप का निराकरण हो जायगा। मिसाल के तौर पर आफ्रिका के जंगली निवासियों को लीजिए। उनमें बन्दरों के सम्बन्ध में यह मान्यता है कि बन्दर पहले उन्हींके जैसे मनुष्य थे और उन्हींके साथ रहते थे। परन्तु कुछ समय बाद वे बड़ी गड़बड़ी करने लगे, इसलिए बाक़ी लोगों ने उन्हें अपने बीच से निकाल दिया। तब उनकी अवनति शुरू हुई। और होते-होते, क्रमशः, वे आज

की निकृष्ट स्थिति पर आ पहुँचे। ओरंग-उत्ताङ्ग नामक जिस क़िस्म के बन्दर का आगे वर्णन है, वह जावा का है; और वहाँ की भाषा में इस शब्द का अर्थ है—'जंगल में रहने वाला मनुष्य'। दूर क्यों, हमारी संस्कृत-भाषा में ही बन्दर शब्द की व्युत्पत्ति देखें तो भी यही अनुमान निकलता है। क्योंकि, वानरः अथवा वा नरः, विकल्पेन नरः—अर्थात्, नर कहने में भी हर्ज नहीं ऐसा वानर या बन्दर—उसका अर्थ है। मतलब यह कि इन सारी बातों पर से यह समझ में आ सकता है कि हमारा और बन्दरों का रक्त-मांस का कुछ-न-कुछ सम्बन्ध है, यह कल्पना बिलकुल आधुनिक ही नहीं है; बल्कि प्राचीन काल में भी थोड़े-बहुत परिमाण में लोगों के ध्यान में यह बात आई थी। उपर्युक्त कल्पना में और आजकल की शास्त्रीय रीति से सिद्ध हुई कल्पना में फ़र्क़ सिर्फ़ इतना है कि पहले यह कल्पना थी कि मनुष्यों से अवनत होते-होते बन्दर की उत्पत्ति हुई, जब कि आजकल की उपपत्ति के अनुसार बन्दर से विकास होते-होते अखीर में मनुष्य की उत्पत्ति हुई है।

बन्दर से मनुष्य का विकास हुआ, यह बात अब बहुतों के गले उतर गई है; फिर भी सर्व-साधारण में इसके बारे में एक भ्रम फैला हुआ है; वह यह कि वे यह समझते हैं कि साधारणतः हम जिन बन्दरों को देखते हैं विकासवादियों के मतानुसार वही

हमारे अत्यन्त पूर्व के सम्बन्धी हैं। पर विकासवादियों के मतानुसार जो बन्दर हमारे अत्यन्त प्राचीन पूर्वज हैं वे उन बन्दरों से कई बातों में विभिन्न थे, जो कि साधारणतः आज हमारे देखने में आते हैं। उदाहरणार्थ, हमारे देखने में जो बन्दर आते हैं उनके पूँछ होती है, जब कि मनुष्य-जैसे बन्दरों के पूँछ नहीं थी। अतएव विकासवादियों के मतानुसार जो हमारे पूर्वज हैं उनमें और हममें हमें जितना मालूम पड़ता है उससे भी अधिक साम्य है। अब इन बन्दरों से अपना विकास होने सम्बन्धी प्रमाणों को देखने से पहले इन मनुष्य-जैसे बन्दरों के सम्बन्ध में हमें और कुछ जानकारी मिले तो यह विषय समझना ज़रा सुलभ होगा। अतएव पहले उस जानकारी को ही देखना चाहिए।

इन मानव-सम बन्दरों के चार वर्ग हैं। गिबन (चित्र नं० २३), ओरंग-उत्तांग (चित्र नं० २३), चिम्पनज़ी (चित्र नं० २४) और गुरिल्ला (चित्र नं० २५) उनके नाम हैं। ये सब एक-दूसरे से और साथ ही मनुष्यों से भी बहुत मिलते-जुलते हैं। इन सबके मनुष्य की तरह ३२ दाँत होते हैं, जब की अन्य बन्दरों के ३६, ४० या ४४ दाँत होते हैं। पूँछ इनमें से किसी के भी नहीं होती। इनका चेहरा (अर्थात् नाक, कान, ठोड़ी इत्यादि) मनुष्य के चेहरे-जैसा होता है। इसी प्रकार अन्य बन्दरों की नाईं इनके गालों के कोश भी नहीं होते।

चित्र नं० २२

गिब्बन (Gibbon)

चित्र नं० २३

ओरंग उत्तान (Orang otan)

चित्र नं० २४
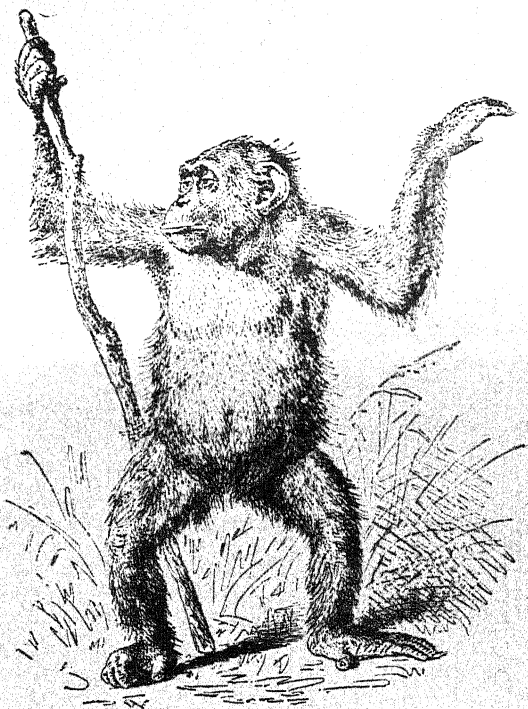
चिम्पंज़ी (Chimpanzee)

चित्र नं० २५

गुरिल्ला (Gorilla)

इन सबके हाथ पाँवों की अपेक्षा कम-ज्यादा परिमाण में लम्बे होते हैं। इस परिमाण से जो उनका अनुक्रम लगाया जाय तो वह इस प्रकार होगा—ओरंग के हाथों व पाँवों की लम्बाई का परिमाण १$\frac{४}{६}$ से १ है। गिबन का १$\frac{३}{४}$ से १ है। गुरिल्ला का १$\frac{१}{५}$ से १ और चिम्पनजी का १$\frac{१}{१३}$ से १ है। इन सब के हाथों-पाँवों में, मनुष्यों की नाईं, पाँच-पाँच अंगुलियाँ होती हैं। परन्तु मनुष्य के पाँव का अंगूठा शेष अंगुलियों के मुक़ाबले जितना मोटा व लम्बा होता है, उतना इन बन्दरों में नहीं होता। अलावा इसके हम पाँव के अंगूठे और अंगुलियों को हाथों की अंगुलियों की तरह इच्छानुसार—मनमाने तौरपर—इधर-उधर हिलाडुला नहीं सकते, परन्तु ये सब अपने पाँवों की अंगुलियों को इच्छानुसार हिला डुला सकते हैं।

इनमें गिबन सबसे छोटा और नाजुक़ होता है। इसके हाथ शरीर के परिमाण में सबसे ज्यादा लम्बे होते हैं। अतः जब ये बन्दर ज़मीन पर खड़े रहते हैं उस समय उनके हाथ ज़मीन तक पहुँच जाते हैं। ये बन्दर भिन्न-भिन्न रंगों के होते हैं। ओरंग सीधा खड़ा रहे तो उसके हाथ पेट तक पहुँचते हैं। उसके अंगूठे बहुत कड़े होते हैं। उसका रंग भूरा होता है, जिसमें लाल रंग की थोड़ी झलक रहती है। चिम्पनजी के हाथ घुटनों के नीचे तक पहुँचते हैं। उसके अंगूठे मोटे होते

हैं। उसके बाल काले होते हैं, मुँह पर की चमड़ी का रंग फीका होता है। और गुरिल्ला के हाथ घुटनों तक ही आते हैं। उसके अंगूठे भी मोटे होते हैं, चेहरा काला होता है और बाल काले अथवा सुरमई रंग के होते हैं। फिर ये सब बन्दर, जिन्हें हमने मानव-सम जैसा यथार्थ नाम दिया है, पुच्छ-हीन के साथ आजानु-बाहु भी हैं। इसके विपरीत मनुष्य के हाथ छोटे होने के कारण घुटनों तक भी नहीं पहुँचते। इन सबकी ठठरियाँ मनुष्य की ठठरियों के साथ तुलना करने के लिए आगे के अध्याय में दी गई हैं। (चित्र नं० २६)। उनपर से उनके हाथ-पाँवों की लम्बाई के बारे में ठीक कल्पना होगी। ऊपर दिये हुए बन्दरों सम्बन्धी साधारण वर्णन के बाद उन प्रत्येक का विशेष वर्णन और प्रत्येक की रहन-सहन व खाने-पीने की विशेषता के बारे में संक्षेप से विचार करेंगे।

इनमें से गिबन-वर्ग में ही ५-६ भिन्न-भिन्न जातियाँ हैं। यह बन्दर ज्यादातर जावा, सुमित्रा, बोर्नियो द्वीपों और मलाका, स्याम, अराकान प्रदेशों में मिलता है। इसकी अधिक से अधिक ऊँचाई ३ फुट से एकाध इंच तक ही होती है। इन चारों वर्गों में गिबन ठिंगना है। फिर ऊँचाई के हिसाब से भी उसका शरीर हलका है और इसलिए वजन भी थोड़ा होता है। ये बन्दर पहाड़ों में दरख्तों पर रहते हैं। सारे दिन दरख्त पर ही

रहते हैं और सायंकाल के लगभग उनकी छोटी-छोटी टोलियाँ नीचे ज़मीन पर आती हैं। परन्तु मनुष्य की ज़रा-सी आहट पाते ही एकदम भड़क कर पहाड़ की तरफ़ भाग खड़े होते हैं। इनकी आवाज़ बड़ी तेज़ होती है, और दूरतक सुनाई पड़ती है। चिल्लाना कुछ इस तरह का होता है—"को एक को एक हा हा।"

समतल ज़मीन पर ये बन्दर दूसरे चौपायों की तरह चारों पाँवों के सहारे न चलकर मनुष्य की तरह दो पाँवों के सहारे खड़े होकर चलते हैं। चलते समय मनुष्य की नाईं बिलकुल सीधे न खड़े होकर उनका शरीर एक तरफ़ को कुछ झुका हुआ होता है। उस समय वे अपने हाथ दोनों तरफ़ खुले छोड़े रहते हैं। हाथ लम्बे होने के कारण उन्हें ज़मीन पर टेकते हैं; और इसके कारण उन्हें उसका सहारा मिलता है। अथवा कभी-कभी वे हाथ ऊपर को उठाकर शरीर का वज़न (Balance) सम्हालते हैं। पर इतना होने पर भी वे बहुत धीरे-धीरे नहीं चल सकते, उनके घुटने चलते समय सीधे के बजाय कुछ मुड़े हुए दीखते हैं और चलने के बजाय वे जल्दी-जल्दी दौड़ते ही हैं, ऐसा कहना अत्युक्ति न होगी। इस समय एक बार इस तरफ़ और फिर उस तरफ़ उन्हें झोका लगता रहता है, इससे उनका चलना ज़रा अजीब दिखाई देता है, और इसपर से यह प्रकट है कि उन्हें

मनुष्य की तरह सहज तौर पर चलना नहीं आता। मगर कोशिश करनेपर वे ऐसा कर सकते हैं, यह बात इसपर से स्पष्ट है।

समतल जमीन पर शिकारियों को इसका पीछा करने में बड़ी आसानी होती है। क्योंकि इसे बहुत तेज भागना न आने के कारण यह सहज ही पकड़ा जाता है। परन्तु समतल जमीन पर यह कभी-कदास ही मिलता है। अधिकांश समय दरख्तों में ही रहने के कारण, वहाँ पर, इसे पकड़ना बड़ा मुश्किल होता है। क्योंकि दरख्तों पर कूदने-फाँदने में यह बन्दर अत्यन्त चपल होता है। इस दरख्त से उस दरख्त पर यह घण्टों तक बिना थके लिये जा सकता है और इस समय तो अपने हाथ-पाँवों का दरख्तों की डालियों व पत्तों पर उछल-कूद मचाने के कामों में एकसाँ उपयोग करता है। दरख्त पर तो २० फुट तक की लम्बी छलाँग सहज ही मारता है और इतने जोरों से छलाँग मारते-मारते एकाध जगह उसे थमना हुआ तो यह काम अपना वेग क्रमशः कम न करते हुए एकदम कर सकता है।

स्वभाव से यह बन्दर गरीब दीखता है। परन्तु इसे सताओ तो यह कड़कड़ी खाकर चबाता है, जिससे कभी-कभी मनुष्य को भयंकर कष्ट होता है। दरख्तों के मुलायम पत्ते, फल व कीड़ों पर यह अपना निर्वाह करता है। पानी पीते समय प्रायः अपने हाथ

पानी में डुबोकर जीभ से अथवा होठों से उसे चाटता है। ऐसा भी कहते हैं कि बैठे-बैठे ही यह नींद लेता है। इन बन्दरों को पालतू बनाने में बहुत प्रयत्न नहीं करना पड़ता। पालतू होने पर भी ये बिलकुल ग़रीब होते हैं, परन्तु छोटे बालकों की तरह बड़ी खुटपचराई करते हैं। ये बन्दर बड़े बुद्धिमान हैं। नीचे दी हुई घटना से यह प्रकट होगा कि इनमें कुछ-न-कुछ सदसद्-विवेक-बुद्धि अवश्य होनी चाहिए।

एक अंग्रेज ने एक गिबन पाला था। इस गिबन को चीजें अस्त-व्यस्त कर डालने की बड़ी बुरी आदत थी। कागज और किताबें उसके सामने आईं नहीं कि वह उनकी चिन्दियाँ कर डालता। और कमरे में रक्खे हुए साबुन की ओर तो खास तौर पर फौरन उसकी नज़र जाती। एक-दो बार साबुन ले भागने के कारण उसे थोड़ा-सा पिटना भी पड़ा था। एक दिन सुबह वह अंग्रेज अपने कमरे में बैठा कुछ लिख रहा था, उसका गिबन भी खुला हुआ उसी कमरे में मौजूद था। मालिक को लिखने के काम में निमग्न देखकर वह गिबन धीरे से साबुन के बक्स के पास गया और साबुन को उठा लिया। परन्तु गिबन के अनजान में चुपके से उस अंग्रेज ने इस बात को देख लिया और लिखने का स्वाँग रचकर वह चुपचाप यह देखने लगा कि देखें आगे यह क्या करता है। गिबन ने साबुन उठाया और हाथ में लेकर बिलकुल

धीरे से वहाँ से खिसकने लगा। साबन उठाते और उसे ले जाते समय बन्दर बीच-बीच में चुपके से अपने मालिक की ओर देखता जाता था और अपने मनमें यह पक्का विश्वास करके उसे ले जा रहा था कि उसकी नज़र मेरी तरफ़ नहीं है। परन्तु जब वह साबन हाथ में लेकर आधे रास्ते पहुँच गया तब उसका मालिक ज़ोर-ज़ोर से कुछ बोला, जिससे बन्दर का ध्यान उसकी ओर आकर्षित हो। मालिक के बोलते ही गिबन ने पीछे मुड़कर देखा तो उसे ऐसा मालूम हुआ कि मैं जो कुछ कर रहा हूँ उसे मेरा मालिक देख रहा है। बस, यह ख़याल होते ही, उसने जहाँ से साबन उठाया था चुपचाप वहीं का वहीं रख दिया और इस तरह ख़ामोश होकर दूर जा बैठा, मानों कोई क़सूर किया हो!

ओरङ्ग की ऊँचाई ज्यादा-से-ज्यादा ४ फ़ुट होती है। इसका शरीर ऊँचाई के परिमाण में मोटा होता है और इसकी परिधि ऊँचाई की दो-तिहाई होती है। यह बन्दर सिर्फ़ सुमात्रा और बोर्नियो द्वीपों में मिलता है और वहाँ भी इसकी आबादी ज़्यादा नहीं है। ज़्यादातर यह पहाड़ों पर नहीं बल्कि सरपट मैदान की घनी झाड़ियों में रहता है। ४०–५० बरस तक यह जीता है। वृद्धावस्था में इनमें से बहुतों के दाँत टूट जाते हैं और वे बिलकुल कमज़ोर हो जाते हैं। ये बन्दर बिलकुल आलसी होने के कारण गिबन में होने वाली चपलता इनके शरीर में

बिलकुल नहीं होती। भूख लगने पर ही मानों ये हाथ-पाँव न हिलाते हों, बाक़ी समय तो ये आराम से बैठे रहने में ही बिताते हैं। दरख़्त पर घण्टों ये एक ही जगह बैठे हुए निकाल देते हैं। अगर इन्हें कोई सतावे नहीं तो एक ही दरख़्त पर कितने ही दिनों तक रहते हैं। दिन में प्रायः दरख़्तों पर रहते हैं और रात को ज़मीन पर उतरते हैं अथवा ज़मीन के निकटवर्ती तनों पर। रात में सोने के लिए ये दरख़्त की टहनियों और पत्तियों का बिछौना तैयार करके उसपर सो जाते हैं। सोते समय ये लकड़ी पर और कभी-कभी कुशा पर भी सोते हैं और उस समय मनुष्य की तरह अपने हाथ सिरहाने लगाते हैं। सर्दी के दिनों में ये अपने शरीर पर पत्ते आदि चीज़ों का ओढ़ना (चादर) भी ओढ़ते हैं। सूर्यास्त के बाद ये सो जाते हैं और सूर्योदय से पहले कभी नहीं उठते।

दरख़्त पर चढ़ते समय ये बड़े धीरे-धीरे अर्थात् क़रीब-क़रीब मनुष्य ही की तरह चढ़ते हैं और इस दरख़्त से उस दरख़्त पर इन्हें गिबन की तरह तड़ातड़ छलाँगें मारना नहीं आता। एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर जाते समय ऐसी जगह ढूँढ़ते हैं कि जहाँ दोनों वृक्षों के तने एक दूसरे के निकट आ रहे हों और फिर उस रास्ते से डरते-डरते जाते हैं। ज़मीन पर गिबन की तरह इन्हें खड़े होकर चलना नहीं आता। चलते समय ये

अपने हाँथ-पाँव जमीन पर टेकते हैं; परन्तु इनके हाथ लम्बे होने के कारण चलते समय ऐसे दीखते हैं, जैसे कोई लँगड़ा बुड्ढा हो। इन्हें बहुत जल्दी भागना नहीं आता, इससे सहज ही पकड़ में आ जाते हैं। सताने पर कभी-कभी यह मनुष्य के शरीर पर आक्रमण कर देता है। शरीर का यह बड़ा बलवान् है; मगर इसका शिकार करने पर यह अपने बचाव का प्राय: विशेष प्रयत्न नहीं करता। ऐसे समय तो बस दरख्त में बिलकुल ऊपर छिपकर बैठने का प्रयत्न करता है और ऊपर जाते हुए दरख्त की निचली टहनियाँ मोड़कर गिरा देता है। दरख्त के फल-फूल और मुलायम पत्ते-पत्तियाँ इसका भोजन है। इसे दरख्त से नीचे उतारने के लिए शिकारी लोग मिर्चों की धूनी देते हैं। इससे यह दिशा-ज्ञान भूलकर अपने-आप नीचे आ जाता है।

प्रोफ़ेसर देवल के सर्कस के एक व्यक्ति ने 'ओरंग-उत्तांग' नामक एक छोटी-सी पुस्तक में शुरू से अखीर तक अपने पाले हुए 'एनी' नामक एक ओरंग-उत्तांग की कहानी दी है। जिन्हें इस सम्बन्ध में विशेष जानकारी हासिल करनी हो, वे उस पुस्तक को जरूर पढ़ें। इस एनी की स्मरण-शक्ति और अनुकरण-शक्ति कितनी थी, यह उस पुस्तक के निम्नांकित उद्धरण से प्रतीत होगा—

"एनी की अवलोकन-शक्ति बड़ी विलक्षण थी। कोई कुछ

भी करता हो, पालथी मारकर, वह क्या व कैसे करता है इसका सूक्ष्म निरीक्षण करके, वह हूबहू नक़ल करने का प्रयत्न करता। कोलम्बो शहर में जिस जगह उसे बाँधा था उस जगह रोज़ सवेरे हमने मुँह धोना शुरू किया तो मुँह धोने से साफ़ होने तक—हम मुँह कैसे धोते हैं, काहे से धोते हैं, पानी के घूँट मुँह में लेकर गुड़गुड़ा कर हम कैसे मुँह से कुल्ला करते हैं, यह सब एनी बड़ी बारीकी के साथ देखता। हमारे मुँह धोकर चले जाने पर वह हमारे ब्राह्मण से तपेली-भर गरम पानी इशारे से माँग लेता। मुँह धोने के दूसरे साधन भी (मंजन, ब्रुश इत्यादि) वह ब्राह्मण से मँगाता। इसके बाद अंगुली में मञ्जन लेकर सब दाँतों पर वह अच्छी तरह उसे फेरता और तपेली से पानी लेकर गुड़गुड़ा कर बाहर कुल्ले करता। तदुपरान्त ब्रुश लेकर हमारी तरह वह भी उसे दाँतों पर फेरता। तपेली का पानी ख़त्म हो जाने पर ब्राह्मण को इधर-उधर जाते हुए रोक, उसके हाथ में तपेली देकर, और पानी लाने का इशारा करता। मुँह धोते में हम जैसे खखारते हैं वैसे ही खखारने का वह प्रयत्न करता और उस समय उसकी सूरत इतनी मज़ेदार दीखती कि उसे देखकर हमें हँसी आती थी।"

चिम्पञ्ज़ी और गुरिल्ला बन्दर सिर्फ़ आफ्रिका में मिलते हैं। चिम्पञ्ज़ी की ऊँचाई ज्यादा-से-ज्यादा ५ फ़ुट होती है। ये खाने

में अथवा दूसरे किसी काम में न लगे हों, तो मानों मनुष्य की तरह बैठे रहते हैं। कभी-कभी खड़े होकर चलते हुए ये मिलते हैं। परन्तु ऐसी स्थिति में जो उन्हें मनुष्य का जरा भी पता लगे तो वे तुरंत चारों पाँवों के सहारे भाग खड़े होते हैं। गिबन की तरह ये खूब चपल होते हैं और इस वृक्ष से उस वृक्ष पर आसानी से चले जाते हैं। शत्रु पर ये अपने-आप कभी आक्रमण नहीं करते। इनके बचाव के मुख्य साधन इनके दाँत हैं। इन्हें पकड़ने के वक्त ये अपने हाथ शत्रु के शरीर के आस-पास डालकर उसे अपने दाँतों के पास लाने का प्रयत्न करते हैं। इनकी टोली में यदि एकाध को बंदूक की गोली लग जाय तो बाक़ी के बन्दर गोली मारने-वाले आदमी पर धावा बोल देते हैं और तब उनके झपाटे से अपनी मुक्ति के लिए बंदूक़ उनके सुपुर्द कर देने के अलावा और कोई उपाय नहीं। बंदूक़ मिलते ही ये बन्दर उसके टुकड़े-टुकड़े कर डालते हैं और फिर मारनेवाले आदमी का पीछा करना छोड़ देते हैं। इन बंदरों के सम्बन्ध में प्रसिद्ध प्राणिशास्त्री क्यूवीर (Cuvier) ने लिखा है कि ये बंदर झुण्ड बनाकर इकट्ठे रहते हैं, और शत्रु से अपना बचाव करने के लिए लोहे-लकड़ी व पत्थरों का उपयोग करते हैं। नीग्रो लोगों की स्त्रियों का पीछा करके अकेली-दुकेली स्त्रियों को कभी-कभी ये उठा ले जाते हैं, ऐसा आफ्रिका में बहुत लोग कहते हैं। ओरंग की नाईं ये बंदर

सोने के लिए दरख़्त की टहनियों और पत्तियों का बिछौना बनाकर उसपर सोते हैं। ये बंदर अशुभ माने जाते हैं।

इनके समस्त व्यवहार से इनकी चतुराई ख़ूब प्रकट होती है। इनमें अपनी संतति—बालकों—के प्रति बड़ी ममता होती है। एक चिम्पञ्ज़ी अपने बच्चे को छाती से लगाकर एक वृक्ष पर बैठी हुई थी कि वहाँ शिकारी लोग पहुँचे। वह चिम्पञ्ज़ी ग़ौर के साथ उनकी तरफ़ देख रही थी। जब शिकारियों ने बंदूक़ों का निशाना लगाया तो, न मालूम क्या, उसने हाथ हिलाकर मानों उनसे अपने को न मारने की प्रार्थना की! जब उसके शरीर में गोली लगकर उससे ख़ून बहने लगा, तो रक्तस्राव को रोकने के लिए उसने उस जख्म पर अपना हाथ रक्खा और जब इतने पर भी ख़ून नहीं रुका तो दरख़्त की पत्तियाँ व घास भी उसने वहाँ लगाईं!

गुरिल्ला भी आफ्रिका में ही मिलता है। इसकी ऊँचाई ५ फ़ुट से भी अधिक होती है; और चित्र में जो गुरिल्ला बताया है उसकी तो ऊँचाई ६ फ़ुट ८ इंच है। इसका शरीर बड़ा हट्टा-कट्टा है और छाती का घेरा मनुष्य की छाती के घेरे से दुगुना है। इसके शरीर पर काले बाल होते हैं। इसका वजन गिबन से पचगुना होता है। चेहरा इसका बड़ा लम्बा-चौड़ा होता है; परंतु उस अनुपात से आँखें छोटी होती हैं। चलते समय यह मनुष्य जैसा

सीधा नहीं चलता; क्योंकि, जैसा चित्र में दिखाई देता है, यह टेढ़ा है। चलते समय हाथ की अंगुलियाँ और तलवे (हथेलियाँ) दोनों तरफ़ ज़मीन पर टिके हुए रहते हैं। इसके मकान चिम्पञ्ज़ी के मकान के समान होते हैं। इन बंदरों में नर की बनिस्वत मादा की संख्या अधिक होती है और ये छोटे-छोटे झुण्ड बना-कर रहते हैं।

सब बंदरों में यह अत्यन्त क्रूर है। मनुष्य के मिलने पर यह उसके पास से हर्गिज़ नहीं भागता, उलटे उसीके शरीर पर हमला कर देता है। आफ्रिका में रहने वाले 'देसी लोग' इससे बहुत डरते हैं और अकेला-दुकेला कोई मनुष्य उसके झपाटे में आने पर कचित् ही ज़िन्दा छुटता है। जैसे ही किसी मनुष्य पर इसकी नज़र पड़ी कि पहले-पहल तो खूब ज़ोर से किलकारता है और आस-पास के स्त्री-बच्चों को दूर पहुँचा आता है। उन्हें पहुँचा देने के बाद तुरंत वापस आता है और बड़े त्वेष के साथ अपने शत्रु के शरीर पर टूट पड़ता है। इस समय उसका जबड़ा खुला हुआ होता है, नीचे का होठ ठुड्डी पर लटका होता है, बाल खड़े होते हैं, और इन सबसे उसकी सारी शक्ल अत्यन्त भयंकर दिखाई पड़ती है। इस समय प्रतिपक्षी की बंदूक़ का निशाना चूका नहीं कि उसके १०० बरस पूरे हो गये समझिए! क्योंकि फिर यह उसे अपने पंजों में जकड़कर ज़मीन पर धड़ाधड़ दे-

देकर मारता और दाँतों से भयंकर जख्म करता है। यहाँ तक कि बंदूक में आगे जो लोहे की नली होती है उसे भी अपने दाँतों में रखकर तत्काल मोड़ डालता है, इतनी अपार इसकी शक्ति है। इस बंदर को जिन्दा पकड़ने में बड़ा प्रयत्न करना पड़ता है। क्योंकि ५-७ मनुष्यों को तो यह योंही समाप्त कर देता है, और जिन्दा मिल भी गया तो कभी पालतू नहीं बनता।
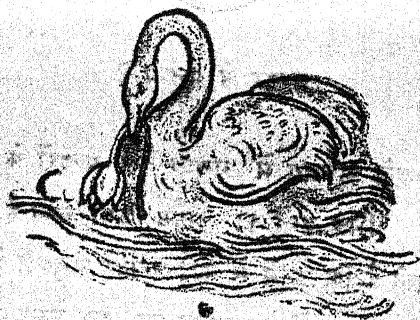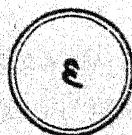
बन्दर से मनुष्य ?

पिछले अध्याय में मनुष्य-जैसे बन्दरों के चार भिन्न-भिन्न वर्गों का वर्णन किया गया है, उससे यह ध्वनि निकलती है कि उनमें से कोई-न-कोई मनुष्यों के पूर्वज होने चाहिएँ। किन प्रमाणों के आधार पर हम ऐसा कहते हैं, यह इस अध्याय में बताया जायगा। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, विकासवाद के सम्बन्ध में जो सामान्य प्रमाण मिलते हैं, इसके सम्बन्ध में भी वैसे ही प्रमाण उपलब्ध हैं। अर्थात्, शरीरशास्त्र, गर्भशास्त्र और प्राच्यप्राणिशास्त्र—इन तीन शास्त्रों के ही आधार पर हम यह बात सिद्ध करेंगे। इनमें से पहले व दूसरे शास्त्र से

प्रस्तुत प्रश्न सम्बन्धी बहुत से प्रमाण मिल सकते हैं और कुछ प्रमाण तीसरे शास्त्र में भी उपलब्ध हैं। अतः अब हम क्रम-पूर्वक इन प्रमाणों पर ही विचार करेंगे।

शरीरशास्त्र में मिलनेवाले विकासवाद के प्रमाणों पर विचार करते समय यह हम भिन्न-भिन्न उदाहरण लेकर देख ही चुके हैं कि पृष्ठवंशीय प्राणियों के शरीर की अन्तर्रचना में परस्पर बड़ा साम्य है। हम मनुष्य के शरीर की किसी भी बंदर के शरीर के साथ तुलना करें तो बाह्याकार तक में हमें यह साम्य दिखाई पड़ता है। उनमें भी चिम्पञ्जी अथवा गुरिल्ला इत्यादि मनुष्य-जैसे बंदर और मनुष्य में तो यह साम्य हूबहू दिखाई पड़ता है। इन दोनों की (मनुष्य व मनुष्य-जैसे बंदर) ठठरियों (चित्र नं० २६) को एक दूसरे के पास रखकर अगर हम तुलनात्मक दृष्टि से उन्हें देखने लगें तो बिलकुल क्षुद्र बातों को छोड़कर वे बिलकुल एकसमान दिखाई देती हैं। मनुष्य के हाथ-पाँवों में जहाँ-जहाँ जितनी हड्डियाँ मिलती हैं, वहाँ-वहाँ इन बन्दरों के हाथ-पाँवों में भी वे मिलती हैं। मनुष्य की कमर के सिरे से आखीर तक जितनी हड्डियाँ मिलती हैं, उतनी ही हड्डियाँ इन बन्दरों की भी कमर में मिलती हैं। मनुष्य के जितने व जैसे दाँत होते हैं, उतने व वैसेही दाँत इनके भी होते हैं; और मनुष्यों के दाँतों में पैदा होने के समय से लेकर बड़े होने तक जैसा फ़र्क़

होता जाता है, वैसा ही फर्क इनके भी दाँतों में होता जाता है। मनुष्य के जोड़ों, कन्धे, कमर आदि की हड्डियाँ जैसी होती हैं। वैसी ही हड्डियाँ इनके भी उस-उस भाग में हैं। मनुष्य के रुधि-राभिसरण के लिए जैसे चार थैलियों वाला हृदय है, उसी प्रकार इनमें भी वह है। मनुष्य के शरीर पर जिस प्रकार बाल हैं और जैसा उनका जमाव है, उसी प्रकार इनमें भी बाल होकर उनका जमाव भी वैसा ही है। जिस जननेन्द्रिय के कारण मनुष्य अपनी परम्परा क़ायम रखता है, संतानोत्पत्ति होती है, उसी प्रकार की जननेन्द्रिय के सबब ये बंदर भी अपना अस्तित्व क़ायम रखते हैं। यह सादृश्य सिर्फ ऊपर-ऊपर का और हड्डियों में ही नहीं बल्कि शरीर के दूसरे भागों अर्थात् स्नायु, मज्जातन्तु, मस्तिष्क, रक्तवह्नियों इत्यादि भागों में भी है। मनुष्य के हाथ-पाँव आदि अवयवों की जगह जितने स्नायु हैं उतने और वैसे ही स्नायु इन बंदरों के इन भागों में भी होते हैं। मनुष्य के मस्तिष्क की जैसी रचना है और उसमें जो विभिन्न भाग मिलते हैं, वैसी ही रचना और वही भाग इन बंदरों के मस्तिष्क में भी मिलते हैं। इस प्रकार मनुष्य के शरीर का प्रत्येक अवयव इन बंदरों के उस-उस अवयव के बिलकुल समान है, यह उस-उस अवयव की अन्तर्रचना देखकर स्पष्ट जाना जा सकता है। परन्तु यह बात साधारण मनुष्य की समझ में आना कठिन है और त्रासदायक भी

चित्र नं० २६

गिबन ओरँग चिम्पंज़ी गुरिल्ला मनुष्य

मनुष्य और मनुष्य-जैसे बन्दरों की ठठरियाँ

चित्र नं० २७

छोटा बालक बड़ा आदमी
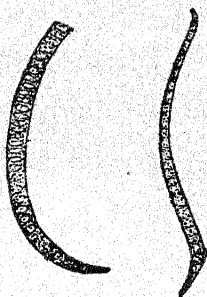
रीढ़ की हड्डियाँ

चित्र नं० २८

एक महीने के छोटे बालक एक शाखा पर अपने हाथों की अँगुलियों के सहारे लटके हुए हैं।

होगी, इस भय से इतनी बारीक बातों में उतरने की यहाँ हमें ज़रूरत नहीं। इन दोनों में कितना साम्य है, यह इस बात से सहज समझ में आ जायगा कि चीरा-फाड़ी (शस्त्रक्रिया) में जो दक्षता प्राप्त करना चाहते हैं वे शुरुआत में अपना बहुत-सा समय और श्रम पहले ऐसे बंदरों के शरीर पर शस्त्र-क्रिया करने में ही बिताते हैं। जो चिकित्सक पहले बन्दर के शरीर पर 'अपेण्डिसाइटिस' (Appendicites) का आप्रेशन कर चुका हो, उसे मनुष्य के शरीर पर इस आप्रेशन का करना मुश्किल नहीं होता। जिसे एकाध बिलकुल नवीन और पहले न किये हुए आप्रेशनको करनेका काम पड़ता है तो वह उस आप्रेशनको पहले इस बंदर पर करके देखता है और अगर उसमें सफल हो जाता है तो फिर मनुष्य पर उस प्रयोग को करता है। इन सब बातों का कारण स्पष्ट है और वह उनके शरीर के सारे भागों में होने वाला विलक्षण साम्य है। हक्सले ने मनुष्य और बन्दरों की सब बातों में बिलकुल बारीकी के साथ तुलना करके सिद्ध किया है कि ऊपर जो चार प्रकार के पुच्छ-विहीन और मानव-सम बंदर कहे गये हैं इनका अन्य नीचे दर्जे के बन्दरों से अर्थात् पूँछदार बन्दरों से जितना साम्य है उसकी बनिस्बत सब बातों में उनका मनुष्य से अधिक साम्य है। अब ये पूँछदार और बेपूँछ के सब बन्दर मूल में एक ही पूर्वजों से हुए होंगे, यह बात हम तुरन्त

मान लेते हैं। अगर यह बात ठीक है तो फिर मनुष्य और गिब्बन, गुरिल्ला इत्यादि बेपूँछ के बन्दर भी मूल में एक ही पूर्वजों से हुए होंगे, यह परिणाम निकालना उतना ही युक्तियुक्त किम्बहुना अधिक युक्तियुक्त क्यों न होगा ?

इन बेपूँछ के बन्दरों और मनुष्यों में इतना साम्य होने के साथ-साथ थोड़ा-बहुत फ़र्क़ भी है, और उसके प्रति दुर्लक्ष्य करने से हर्गिज़ काम नहीं चल सकता। अतः अब वह फ़र्क़ किन-किन बातों में है और उसकी उपपत्ति विकासवाद के अनुसार कैसे लगनी चाहिए, यह भी हमें देखना चाहिए। मनुष्य और बन्दरों के सिर्फ़ इसी फ़र्क़ पर प्रतिपक्षियों का कहना यह है कि हमारा और उनका सम्बन्ध होना कदापि सम्भव नहीं। परन्तु इस सम्बन्ध में विचार करते समय इस फ़र्क़ सम्बन्धी एक सामान्य बात पर अवश्य ध्यान रखना चाहिए; वह यह कि जहाँ दो विशिष्ट प्राणियों में कुछ फ़र्क़ होते हैं और वे फ़र्क़ गुण-विशिष्ट अथवा आत्यंतिक स्वरूप के (Those of Kind or qualitative) होते हैं वहाँ उसपर से दोनों प्राणियों का सम्बन्ध नहीं हो सकता, यह कहा जायगा। परन्तु इसके विपरीत जो ये फ़र्क़ ऐसे स्वरूप के न हों और मात्र परिमाण-स्वरूप अथवा कम-ज़्यादा (quantitative) ही हों, तो यह बात उनके सम्बन्ध में बाधक नहीं हो सकती। इसी दृष्टि से हमें भी इन फ़र्क़ों को देखना चाहिए।

मनुष्यों में और इन बंदरों में किम्बहुना अन्य समस्त चौपायों में सहज ही ध्यान में आनेवाला बड़ा फ़र्क़ यह है कि मनुष्य खड़ा होकर चलता है, जब कि शेष प्राणी औंधे होकर चलते हैं; और इस फ़र्क़ पर प्रतिपक्षियों का विशेष कटाक्ष है। परन्तु पिछले अध्याय में इन बंदरों का वर्णन करते हुए यह हम पहले देख ही चुके हैं कि इनमें से कुछ को मनुष्य की नाईं खड़े होकर चलने की आदत है। मगर यह बात उनके लिए कष्ट-साध्य है और स्वभावतः एवं सहज तौर पर हमारी तरह उन्हें ऐसा करना नहीं आता, यह भी हमको भूल न जाना चाहिए। सिर्फ़ इस एक फ़र्क़ से मनुष्य को विलक्षण लाभ हुआ है। क्योंकि उसे चलने के काम में हाथ की जरूरत न रहने से हाथों का इच्छानुसार दूसरे कामों के करने में उपयोग किया जाने लगा है। परन्तु हमें यह देखना चाहिए कि मनुष्यों और बाक़ी के प्राणियों में होने वाला यह फ़र्क़ गुण-विशिष्ट या आत्यंतिक स्वरूप का है अथवा केवल परिमाण-विशिष्ट होकर किसी द्वितीय या आनुषंगिक बात पर अवलम्बित है।

यह हमें मालूम ही है कि एक-दो वर्ष का होने तक बच्चों को हमारी तरह चलना नहीं आता। इस समय वे रेंगते हैं, यह कहने में भी कोई हर्ज नहीं कि चौपाये होते हैं। पर दो वर्ष के होने पर वे हमारी सी तरह चलने लगते हैं। इसपर से

यह सहज ही मालूम होगा कि खड़े होकर चलने का गुण मनुष्य में हमेशा का नहीं है। जब वह पैदा होता है तब उसकी कमर की हड्डियाँ (चित्र नं० २७), जिनके समुच्चय को हम पीठ की 'रीढ़' कहते हैं, सीधी रेखा में नहीं बल्कि हमारी-सी तरह धनुष की नाईं पेट की तरफ़ बल खाई हुई होती हैं। इसके कारण उसके शरीर के गुरुत्वमध्य से लेकर ज़मीन-पर्यन्त एक खड़ी सीधी रेखा खींचें तो वह उसके दोनों पाँवों के अखीर में न पड़कर थोड़ी-सी आगे को पड़ती है। इससे उसका सारा झुकाव आगे को जाता है और इसीलिए वह सहज ही गिर पड़ता है। परंतु जैसे-जैसे बड़ा होता जाता है तैसे-तैसे उसकी कमर का टेढ़ापन कम-कम होता जाता है और उसके शरीर के गुरुत्वमध्य से खींची हुई रेखा उसके दोनों पाँवों के क़रीब-क़रीब आने लगती है और जब यह रेखा दोनों पाँवों के बीच में पड़ती है तब उसका भार ठीक बीच में पड़कर वह उसे सम्हाल सकता है तथा खड़ा रह सकता है और इस समय से समस्त आयु-भर मनुष्य को खड़े होकर चलना आता है। पशु को खड़े होकर चलना नहीं आता, उसका कारण भी यही है। उसके गुरुत्व-मध्य से खींची हुई रेखा अंत में उसके पीछे के दोनों पाँवों के बहुत आगे पड़ती है। इसके सबब उसका सारा झुकाव आगे को होता है और उसे सम्हालने के लिए उसे आगे के पाँव ज़मीन पर टेकने पड़ते हैं। इससे पशु

सहसा खड़े होकर नहीं चल सकता और चले भी तो बहुत थोड़े समय तक एवं बड़े प्रयत्न से सरकस के कुत्ते के समान चल सकता है। गिबन को खड़े होकर चलने में इतना प्रयत्न अपेक्षित न होने का कारण यह है कि अन्य पशुओं के परिमाण में उसके शरीर की रचना ऐसी होती है कि उसका सारा भार आगे के दोनों पाँवों पर बराबर सा पड़ता है और इसलिए वह खड़ा रह सकता है, भलेही इसमें उसे थोड़ा परिश्रम क्यों न पड़े। अतः इन विषयों में अन्य प्राणियों और मनुष्यों में चाहे बहुत भेद हो तो भी इन बंदरों और मनुष्यों में बहुत ही कम भेद है तथा इन दोनों में जो कुछ फ़र्क़ है वह भी उनके शरीर की रचना में बिलकुल नहीं है। मनुष्य के शरीर की रचना जिस तरह की है ठीक वैसी ही इन बंदरों के शरीरों की भी रचना है। जंगल में एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर ये बंदर जाते हैं तब बहुत बार उनका शरीर खड़ा ही रहता है। अतः दोनों में जो कुछ फ़र्क़ है वह ज़मीन पर चलने के ढंग में ही है। एक ज़मीन पर सहज तौर पर खड़ा हुआ चल सकता है और दूसरे के चलने में ऐसा मालूम पड़ता है कि इसे खड़े होकर चलने में परिश्रम पड़ता है। इसपर से यही कहा जायगा कि एक (अर्थात्, मनुष्य) ज़मीन पर चलने के अधिक योग्य है और दूसरा (बंदर) वृक्षों में रहने के अधिक उपयुक्त है।

मनुष्य को खड़े होकर चलने की आदत अत्यन्त प्राचीन नहीं बल्कि हाल की ही है, यह नीचे की बात से मालूम होगा। अनेक मनुष्यों को आन्त्र-वृद्धि (Hernia) नामक रोग होता है। इस रोग में हमारी अन्न-प्रणाली और उसके भिन्न-भिन्न भागों का दबाव हमारे कूल्हों के ऊपर के स्नायु नहीं सह सकते, इससे वह दबाव नीचे के अवयवों पर पड़कर अत्यन्त पीड़ा होती है। इसपर से यह अनुमान निकलता है कि यद्यपि हम खड़े होकर चलने लगे हैं तो भी इस भार को सहने के लिए स्नायु जितने बलवान होने चाहिएँ उतने अभी तक नहीं हुए हैं। जानवरों को औंधे चलने की आदत होने के कारण उनकी पचनेंद्रिय का सारा भार पेट की मोटी चमड़ी पर पड़ता है और इसीलिए उन्हें यह रोग नहीं होता। इसपर से यह अनुमान निकालना असंगत न होगा कि हमें और हमारी तरह बहुतों को यह इसीलिए होता है कि हम पहले कभी औंधे चलते होंगे और अभी भी खड़े होकर चलने से हमें पूरा पाचन नहीं होता।

अब यह खड़े होकर चलने की कम-अधिक पात्रता मनुष्यों और बंदरों में कैसे आई, यह जानने के लिए इन दोनों के हाथ-पाँवों की ओर हमें देखना चाहिए। दोनों के पाँवों की तरफ जब हम दृष्टिपात करें तो यह पता सहज लग जाता है। पाँवों की अन्तर्रचना यद्यपि एकसी ही है और जिस जगह एक के जितनी

होकर चल सकते हैं। फिर हमारे पाँवों की अंगुलियों को हम बहुत हिला-डुला नहीं सकते। जिस प्रकार हमारे हाथों की अंगुलियाँ हथेली की तरफ़ मुड़ती हैं, वैसे पाँवों की अंगुलियाँ नहीं मुड़तीं। परन्तु गिबन के पाँवों की अंगुलियों में यह शक्ति है और इसलिए उसके पाँवों की अंगुलियाँ इच्छानुसार मुड़ जाती हैं। इससे गिबन को वृक्ष पर घूमने-फिरने में पाँवों की बड़ी मदद मिलती है; क्योंकि अपने पाँवों की अंगुलियों से वह वृक्षों की डालियाँ वग़ैरा पकड़ सकता है। हमारे पाँवों की यह शक्ति बहुत-कुछ नष्ट हो गई है और इसका कारण यही है कि हमारे पाँवों में ऐसी वृद्धि हुई कि सिर्फ़ दो पाँवों से, बिना हाथों की मदद के, हम ज़मीन पर खड़े होकर चलने लगे। जिस अर्थ में पाँवों की इस प्रकार वृद्धि हुई उस अर्थ में हाथ निस्सन्देह बिलकुल मुक्त हो गये, हाथों का उपयोग चलने में करने की अब बिलकुल ज़रूरत न रही। तब हाथों का उपयोग सिर्फ़ चीज़ें रखने में होने लगा। इससे पाँवों में पहले जो चीज़ें रखने की एक शक्ति थी उसकी अब उपयोगिता न रही। तब पहले जिस प्रकार पाँवों की अंगुलियाँ एक-दूसरे की तरफ़ और तलवे की ओर मुड़ जाती थीं, वह शक्ति अब नष्ट हो गई; परन्तु पाँवों की वृद्धि केवल चलने की ही दृष्टि से होने लगी, इससे हमें कोई नुक़्सान न होकर उलटे फ़ायदा ही हुआ। मतलब यह कि पहले चलने

की और चीज़-वस्तों को उठाने की क्रिया ये दोनों गुण हाथ-पाँव दोनों में थे, वह मिटकर अब चलने की क्रिया केवल पाँवों की और उठाने की क्रिया केवल हाथों की हो गई। इस योग से, अर्थशास्त्र में कहे अनुसार, श्रम-विभाग हुआ और प्रत्येक अवयव का एक ही काम रह जाने से स्व-संरक्षण के काम में उसका मनुष्य को बड़ा उपयोग हुआ होना चाहिए। क्योंकि कालान्तर में मनुष्यों ने अपने हाथों की मदद से पत्थरों से आजकल प्राचीन वस्तु-संशोधन में मिलने वाले तरह-तरह के पत्थर के हथियार बनाये, जिनसे शिकार के काम में और जंगली जानवरों से अपना संरक्षण करने के काम में उन्हें बड़ी मदद मिली होनी चाहिए। हाथों ही की सहायता से उन्होंने अरण्य में अपने लिए छोटा-सा घर बनाया और बाल-बच्चों का व अपना सर्दी-पानी से बचाव किया। ऐसी कितनी ही बातें हैं, जो मनुष्य का हाथ पूर्णतः मुक्त होने से ही करने लगा है। इसका थोड़ा-बहुत परिणाम उसके दिमाग़ पर भी हुआ और उससे उसकी बुद्धिमत्ता बढ़कर अनेक नई-नई बातें वह अपने-आप सीखा होना चाहिए। हस्तकला का बुद्धि की वृद्धि में कितना उपयोग हुआ होगा, यह आजकल शिक्षाविज्ञ लोग बच्चों की पढ़ाई में हस्तकला (Manual Training or Handicraft) को जो महत्व देते हैं उससे स्पष्ट है।

गिबन के हाथ-पाँवों से मनुष्य के हाथ-पाँव कैसे हुए, इस सम्बन्ध में ऊपर कहे अनुसार विकासवादी जो उपपत्ति देते हैं उसकी पुष्टि के लिए अनेक प्रमाण मिलते हैं। मनुष्य के पाँवों को यदि हम काट कर देखें तो यह साफ़ दिखाई पड़ता है कि पाँव की प्रत्येक अंगुली में उस अंगुली को इच्छानुसार जिधर चाहें उधर मोड़ने के लिए गिबन की तरह स्नायु हैं। सिर्फ़ उन स्नायुओं की शक्ति बहुत कम पड़ जाने के कारण आजकल हम ऐसा नहीं कर सकते। परन्तु जिस अर्थ में अबतक वे स्नायु हैं उस अर्थ में यह स्पष्ट है कि बहुत पहले उन स्नायुओं का उपयोग हमें होता रहा होगा; नहीं तो अब उन स्नायुओं का क्या प्रयोजन है? अर्थात्, हमारे पूर्वजों के पाँव एक समय गिबन की तरह कोई भी चीज़ पकड़ने के काम में उपयोगी होते रहे होने चाहिएँ। इस उपपत्ति की दूसरी एक बात से भी पुष्टि हो सकती है। एक वर्ष के बालक के पाँव अगर हम देखें तो मालूम होगा कि वे हमारे पाँवों से ज़रा भिन्न होते हैं। जिस तरह गिबन के पाँवों के सिरे पर टेढ़ाई होती है उसी प्रकार परन्तु ज़रा कम परिमाण में छोटे बच्चे के पाँवों में भी टेढ़ाई होती है। इसी प्रकार यद्यपि छोटा बच्चा गिबन की तरह अपने पाँवों की अंगुलियाँ तलवों से नहीं लगा सकता, मगर फिर भी हमारी अपेक्षा वे तलवे की ओर ज़्यादा मुड़ी हुई होती हैं। इसीलिए छोटे बच्चे

अपने पाँवों की अंगुलियों में छोटा चम्मच या कोई खिलौना पकड़ सकते हैं और फिर जैसे-जैसे चलना सीखते जाते हैं तैसे-तैसे उनकी अंगुलियों की यह शक्ति नहीं-सी होती जाती है। इसपर से यह कहना पड़ता है कि पहले हमारे पाँवों की अंगुलियों में भी चीज़ें उठाने की यह शक्ति मौजूद थी। साथ ही इसके जन्म से ही जिनके बिलकुल हाथ नहीं होते ऐसे लोगों के पाँवों में यह शक्ति अधिक परिमाण में मिलती है। बाई गाँव के लोगों को कदाचित् यह बात मालूम होगी कि वहाँ की अदालत में एक हस्तहीन क्लर्क पाँवों से लिखता है। इसी प्रकार पूना में ऐसी ही एक हस्तहीन स्त्री पाँवों की अंगुलियों से बीड़ी बनाती है।

(चित्र नं० २८) डा० लुई रॉबिनसन ने देखा कि अबोध बालक के हाथों में किसी भी चीज को अपने पंजे में पकड़ने की शक्ति उसके शरीर और वय के परिमाण में इतनी विलक्षण होती है कि यह समझ में नहीं आता कि इतनी छोटी उम्र में उसे इस शक्ति की क्या जरूरत है। इसपर से उसका यह अनुमान है कि इस विलक्षण शक्ति का कुछ-न-कुछ सम्बन्ध हमारी पूर्व-स्थिति से होना चाहिए। बन्दरी के बच्चे अपनी माँ के पेट से चिपके रहते हैं, यह बहुतों ने देखा ही होगा। अपने हाथों से अपनी माँ के बाल पकड़े रहने के सबब वे वहाँ रह सकते हैं। इसपर से डा० लुई का अनुमान है कि हमारे पूर्वजों के भी बच्चे एक समय

बन्दरों की तरह अपनी माँ के पेट से चिपटे रहते होंगे। यह अनुमान ठीक भी मालूम पड़ता है; नहीं तो अबोध बच्चों के हाथों में होने वाली इस विलक्षण शक्ति की ठीक उपपत्ति न लगती। बिलकुल अबोध बालक के हाथों में यह शक्ति कितनी है, इसका सने प्रयोग करके देखा है। हम लोग जिस तरह लट्ठे (सिंगल ह।र) को पकड़ कर उसपर लटक जाते हैं, उसी प्रकार बार) अबोध बालक भी आधी से २—३ मिनट तक लटक सकते हैं। चित्र नं० २८ एक ऐसे शिशु का चित्र है, जो इसी तरह एक डाली पर दो मिनट तक लटका रहा था। इस चित्र में शिशु के हाथ-पाँव की रचना भी बन्दर की सी ही दिखाई देती है। और सबसे भारी आश्चर्य की बात तो यह है कि जबतक इन बच्चों की मुट्ठी ढीली नहीं हो जाती तबतक वे बिना रोये इसी तरह लटकते रहते हैं।

इसके बाद मनुष्य और बन्दर में दीखने वाला भेद उनके दिमाग़ में है। परन्तु यह भेद भी दिमाग़ की अन्तर्रचना में न होकर उसके कम-अधिक वज़न और आकार में है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, दोनों ही के दिमाग़ की रचना क़रीब-क़रीब एकसी है। इतना ही नहीं बल्कि मनुष्य के दिमाग़ के भिन्न-भिन्न भाग जैसे अपना जुदा-जुदा काम करते हैं (उदाहरणार्थ एक भाग देखता है, दूसरा भाग हाथ-पाँव आदि कर्मेन्द्रियों

के स्नायुओं को गति देता है, इत्यादि-इत्यादि), उसी प्रकार बन्दर के दिमाग़ के भी वह-वह भाग उस-उस काम को करते हैं। अतः, इस दृष्टि से, दोनों के दिमाग़ एकसे ही हैं। फ़र्क़ यदि है तो वह सिर्फ़ यह कि इन बन्दरों के शरीर के वज़न से उनके दिमाग़ के वज़न का जो परिमाण होता है, वह मनुष्य के शरीर और दिमाग़ के वज़न का जो परिमाण होता है उसकी अपेक्षा बहुत भिन्न है। बन्दरों की अपेक्षा मनुष्य में यह परिमाण साधारणतः पाँच-छः गुना अधिक होता है। मनुष्य के दिमाग़ का वज़न लगभग ४८ औंस होता है और गुरिल्ला के दिमाग़ का अधिक से अधिक वज़न २० औंस है। मनुष्यों में दिमाग़ के वज़न का शरीर के वज़न से १ : ५१ परिमाण है, और ओरंग में यह परिमाण १ : १८३ है। दिमाग़ के वज़न के इस भेद पर विशेष जोर देकर भी प्रतिपक्षी लोग कहते हैं कि यह फ़र्क़ इतना बड़ा और आत्यन्तिक स्वरूप का है कि इसपर से यह कल्पना तक करना असम्भव है कि बन्दर से मनुष्य का विकास हुआ होगा।

परन्तु केवल इस फ़र्क़ से ही यह कहना ठीक नहीं है कि मनुष्य और बन्दर भिन्न-भिन्न पूर्वजों से हुए। बहुत से बहुत यह कहा जा सकता है कि इस भेद के ही सबब इन दो प्राणियों की बुद्धिमत्ता में मिलने वाला फ़र्क़ हुआ। क्योंकि अगर हम

पृष्ठवंशीयों के वर्ग में आने वाले भिन्न-भिन्न प्राणियों के दिमाग़ों का निरीक्षण करें तो हमें मालूम पड़ेगा कि किसी प्राणी की बुद्धिमत्ता उसके दिमाग़ की दो बातों पर अवलम्बित रहती है। जैसे-जैसे प्राणी अधिक बुद्धिमान और ऊँचे दर्जे का होता है तैसे-तैसे उसका दिमाग़ उसके शरीर के परिमाण में अधिक मोटा और अधिक जड़ होता है। दूसरी बात यह है कि बुद्धिमान अथवा ऊँचे दर्जे के प्राणियों के दिमाग़ का पिछला हिस्सा चिकना न होकर उसमें अन्दर-अन्दर बल होते हैं। उदाहरणार्थ (चित्र नं० २९) इसी वर्ग के अधिकाधिक बुद्धिमान अर्थात् मछली, अर्द्ध-जलचर, काँगरू जैसे प्राणी, पूँछदार बन्दर, बिना पूँछ के मनुष्य-जैसे बंदर, और अन्त में मनुष्य। इन प्राणियों को लेकर अगर हम इनके दिमाग़ों को देखें तो ऊपर की बातों की सचाई हमारी समझ में आ जायगी। चित्र नं० २९ में इस वर्ग के भिन्न-भिन्न प्राणियों के जो दिमाग़ दिखाये गये हैं उसपर से इनमें की विशेषतः दूसरी बात सहज समझ में आ जायगी। अर्थात् इन प्राणियों में बुद्धिमत्ता की दृष्टि से जैसे-जैसे हम आगे-आगे जाते हैं वैसे-वैसे दिमाग़ का पिछला हिस्सा अधिक खुरदरा और ऊबड़-खाबड़ होकर उसमें कम-ज्यादा स्पष्ट-से बल पड़े हुए दीखते हैं और इस विषय में मनुष्य का दिमाग़ सबसे आगे बढ़ गया है। इसी प्रकार इस बारे में अन्य किसी

चित्र नं० २६

—मछली

—सरीसृप

— पक्षी

— सस्तन प्राणी

—बन्दर

— मनुष्य

पृष्ठवंशीय (रीढ़ वाले) प्राणियों के मस्तिष्क

१. मस्तिष्क का अगला भाग (Cerebrum)

२. मस्तिष्क का पिछला भाग (Cerbellum)

३. पृष्ठरज्ज (Spinal cord)

...भी प्राणी की अपेक्षा गिब्बन, गुरिल्ला इत्यादि बिना पूँछ के बंदरों के साथ मनुष्य का अधिक साम्य है।

साथ ही इसके, जब हम यह कहते हैं कि मनुष्य और बंदरों के दिमाग़ में इतना बड़ा — अर्थात् ५—६ गुना—फ़र्क़ है, तब बंदरों के दिमाग़ की तुलना हम अत्यन्त समुन्नत (Civilized) राष्ट्रों के मनुष्यों के दिमाग़ से करते हैं, यह बात भी हमें न भूल जानी चाहिए। क्योंकि मनुष्यों में भी तो आपस में दिमाग़ के वज़न और आकार में थोड़ा-बहुत फ़र्क़ मिलता है। समुन्नत लोगों की बात लें तो उनमें भी सामान्य मनुष्य के दिमाग़ की अपेक्षा विलक्षण बुद्धिमत्ता वाले मनुष्य के दिमाग़ का वज़न अधिक निकलता है (उदाहरणार्थ जर्मन तत्त्वज्ञानी कैण्ट का दिमाग़ सामान्य मनुष्यों के दिमाग़ से बहुत बड़ा है)। स्त्रियों की औसत बुद्धिमत्ता पुरुषों की औसत बुद्धिमत्ता से कुछ कम है और उसी अनुसार स्त्रियों के दिमाग़ का औसत वज़न भी पुरुषों के दिमाग़ के औसत वज़न से कम ही मिलता है। इसी प्रकार हम आस्ट्रेलिया या आफ्रिका-खण्ड के अत्यन्त जंगली स्थिति के मनुष्यों का उदाहरण लें तो उनकी टाँगें हमारी टाँगों से, उनके शरीर के परिमाण में, बहुत-कुछ छोटी होती हैं और इसी प्रकार उनके दिमाग़ का वज़न व आकार भी हमारे दिमाग़ के वज़न व आकार की अपेक्षा बहुत कम होता है। दूर क्यों जायँ, हम

समुन्नत लोगों में भी जो लोग जन्मजात पागल होते हैं उनके दिमाग़ का वज़न भी बहुत कम होता है। पहले ज़माने में इंग्लैण्ड के लंकाशायर में जो नामक एक आदमी था; वह जन्म से ही पागल-सा था। उसकी ऊँचाई पौने छः फ़ुट थी; परन्तु समस्त शरीर के परिमाण में उसकी टाँगें बहुत छोटी थीं। उसे बहुत-से शब्द आते थे और धीरे-धीरे वह वाक्य भी बोलता था। वह अपने हाथों की अंगुलियाँ भी गिन सकता था; परन्तु घण्टे, दिन, सप्ताह, महीने आदि के बारे में कुछ भी न समझता था। कोई कुछ पूछता तो उसी समय घबरा जाता; और एक सप्ताह में कितने वर्ष होते हैं, यह पूछने पर बहुत समय तक सोच-विचार कर अन्त में यह जवाब देता था कि मुझे ठीक नहीं मालूम। उसके मरने के बाद उसके दिमाग़ को तौला गया तो वह सामान्य मनुष्यों के दिमाग़ का लगभग $\frac{1}{3}$ ही हुआ—और, यह वज़न गुरिल्ला के दिमाग़ के वज़न से बहुत ज्यादा नहीं है।

ऊपर की सारी बातों का असल मतलब एक ही है; वह यह कि मनुष्यों और इन बेपूँछ के बन्दरों के दिमाग़ में जो फ़र्क़ है वह आत्यन्तिक स्वरूप का नहीं है। ऐसे बहुत-से मनुष्य हमें मिलते हैं, जिनके दिमाग़ की रचना और उसका वज़न इन दोनों के दर्मियान होता है। अतः एकाएक देखने पर हमें यह फ़र्क़ जितना बड़ा मालूम पड़ता है, वस्तुतः उतना बड़ा वह है नहीं।

अलावा इसके प्राच्य-प्राणिशास्त्र का हमारा ज्ञान दिनोंदिन जैसे अधिकाधिक बढ़ता जायगा वैसे-वैसे आगे और भी बातें मालूम होकर आजकल मिलने वाला फ़र्क़ भी कम-कम होता जायगा। आज पर्यन्त इस शास्त्र से ज़मीन में अत्यन्त प्राचीन लोगों के जो कुछ अवशेष जावा, इंग्लैण्ड, फ्रान्स इत्यादि देशों में मिले हैं, उनपर से यह स्पष्ट मालूम पड़ता है कि ये अवशेष जितने अधिकाधिक प्राचीन भू-भागों में पाये जाते हैं उनकी खोपड़ी का आकार और उसके साथ-साथ दिमाग़ का आकार व वज़न भी उतना ही कम-कम मिलता है।

अब हम गर्भशास्त्र में मिलने वाले मनुष्य के विकास-विषयक प्रमाणों पर विचार करेंगे। पहले इन प्रमाणों पर विचार करते हुए हम यह देख ही चुके हैं कि किसी भी प्राणी की गर्भावस्था में होने वाली वृद्धि मानों उसकी पूर्व-भूमिका का एक छोटा-सा इतिहास ही है और मनुष्य-प्राणी भी इस नियम का कोई अपवाद नहीं है। अतः अब हम इस दृष्टि से मनुष्य-प्राणी की गर्भावस्था में होने वाली वृद्धि का विचार करते हैं।

प्रत्येक प्राणी की गर्भावस्था में जीवन की शुरुआत एक छोटे-से गर्भकोष से होती है, यह पहले कहा ही गया है। मनुष्य-प्राणी में इस गर्भकोष की लम्बाई लगभग एक इंच का सवासौवाँ ($\frac{१}{१२५}$) हिस्से जितनी सूक्ष्म होती है। (चित्र नं० ७, दूसरा
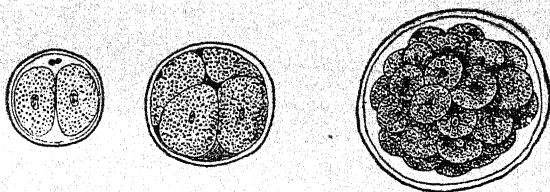
चित्र नं० ३०

मूल के एक गर्भकोश से बढ़ते-बढ़ते क्रमपूर्वक दो, चार, आठ, इस प्रकार अनेक कोश उत्पन्न होते हैं।
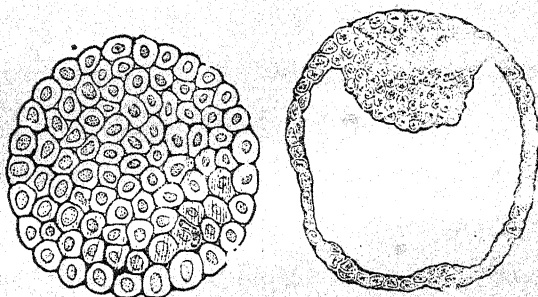
चित्र नं० ३१

अन्त में एक वर्तुलाकार पिण्ड बनता है और उसके बाद उस कोशपिण्ड में एक पोली जगह पैदा होती है।

चित्र नं० ३२
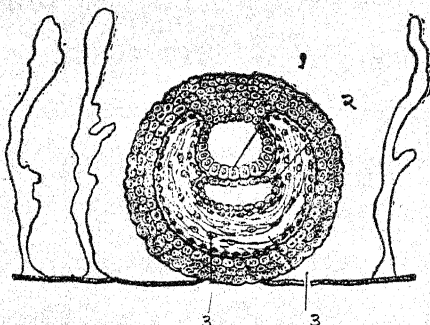
१. अधःकलल (Hypoblast) २. उपरिकलल (Epiblast)
३. मध्यकलल (Mosoblast).

चित्र नं० ३३

चार महीनों के बीच गर्भ की वृद्धि

(१) दो सप्ताह में (२) तीन सप्ताह में (३) चार सप्ताह में (४) पाँच सप्ताह में (५) छः सप्ताह में (६) सात सप्ताह में (७) दो महीने में (८) तीन महीने में (९) पन्द्रह सप्ताह या चार महीने में।

पोलाई के आस-पास का आच्छन्न अथवा अधःकलल (Hypoblast); (२) अन्दर वर्तुलाकार पोलाई के आस-पास का आच्छन्न अथवा उपरिकलल (Epiblast); (३) इन दोनों पोलाइयों के आस-पास के कोषों की चमड़ी के बाहर बिलकुल बाहर के कोष की चमड़ी का भीतरी आच्छन्न अथवा मध्यकलल (Mesoblast)। इनमें से पहले से हमारी अन्नपाचक-नली और समस्त पचनेन्द्रिय-संस्था उत्पन्न होती है। दूसरे से चमड़ी इत्यादि बाहर के भाग उत्पन्न होते हैं और तीसरे से फिर अस्थि-संस्था, रुधिर-संस्था, स्नायु-संस्था इत्यादि अर्थात् शरीर का बहुत-कुछ भाग उत्पन्न होता है।

ये सब बातें कैसे-कैसे और किस-किस कारण से होती हैं, यह समझने के लिए प्राणिशास्त्र का अच्छा ज्ञान चाहिए; अतः इन सब सूक्ष्मातिसूक्ष्म बातों को यहाँ देने की खास ज़रूरत नहीं। यह वृद्धि कैसे होती है, इसकी कुछ कल्पना होने के लिए पहले चार महीनों में होने वाले गर्भ की वृद्धि का परिमाण ३३ नं० के चित्र में दिया गया है। अतः मनुष्य की गर्भावस्था में जो-कुछ दो-चार अवस्थायें हमारे प्रस्तुत वर्णन की दृष्टि से उपयोगी मालूम पड़ेंगी, उन्हींके बारे में यहाँ पर हम विचार करेंगे। तीसरे सप्ताह में मनुष्य के गर्भ के दोनों ओर चार छोटे-छोटे अंकुर दिखाई पड़ते हैं (चित्र नं० ३४)। इन अंकुरों

और उनके आस-पास इस समय दीखने वाले भागों को यदि हम सूक्ष्मता के साथ देखें तो मछलियों में जिस प्रकार इसी जगह (Gills व Gillslits) कल्ले और उनके अंकुर होते हैं उसी प्रकार के ये भाग हैं, यह मालूम पड़ता है। क्योंकि मछली के इस भाग में जिस प्रकार हृदय से रक्तवह्नियाँ आती हैं उसी प्रकार इस समय इस जगह मनुष्य के गर्भ में एक-एक रक्तवह्नि आती है। मछली में इन (Gills) अंकुरों का उपयोग श्वासोच्छ्वास करने में होता है। पानी में रहने के कारण मछलियाँ दूषित रक्त को शुद्ध करने के लिए आवश्यक प्राणवायु हमारी-सी तरह सीधे हवा से नहीं ले सकतीं। अतः पानी में जो थोड़ी-बहुत हवा द्रवित होती है उसमें से वे इस वायु को ले लेती हैं और इसके लिए वे अपने मुँह से बराबर पानी खींचती रहती हैं। यह पानी कल्लों तक पहुँचता है; वहाँ अन्दर जो रक्तवह्नियाँ आई हुई हैं, उनसे रक्त को इस पानी में विद्यमान प्राणवायु मिलकर वह रक्त शुद्ध होता है, और निरुपयोगी हुआ यह पानी उन अंकुरों के रास्ते बाहर गिरकर उसकी जगह पुनः नया पानी आता है। इस प्रकार इन कल्लों का मछलियों को श्वासोच्छ्वास करने के काम में उपयोग होता है।

अब रहा यह कि तीसरे सप्ताह में हमें गर्भ में जो मछलियों के से कल्ले और उनके अंकुर दीखते हैं, वे किस उपयोग में आते

चित्र नं० ३४
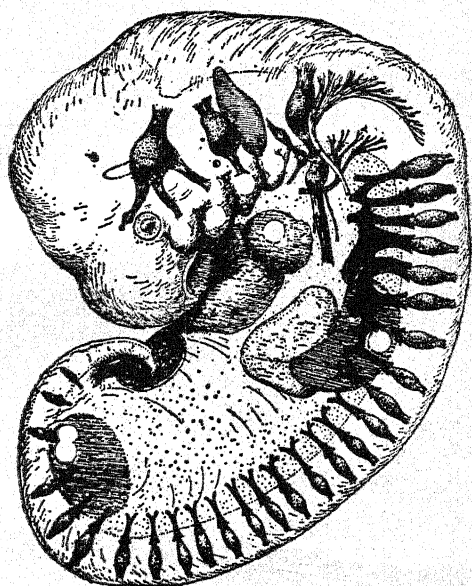
१—पूँछ; २—अँकुर; ३—पैर; ४—हृदय; ५—पित्ताशय; ६—हाथ ।

चित्र नं० ३५
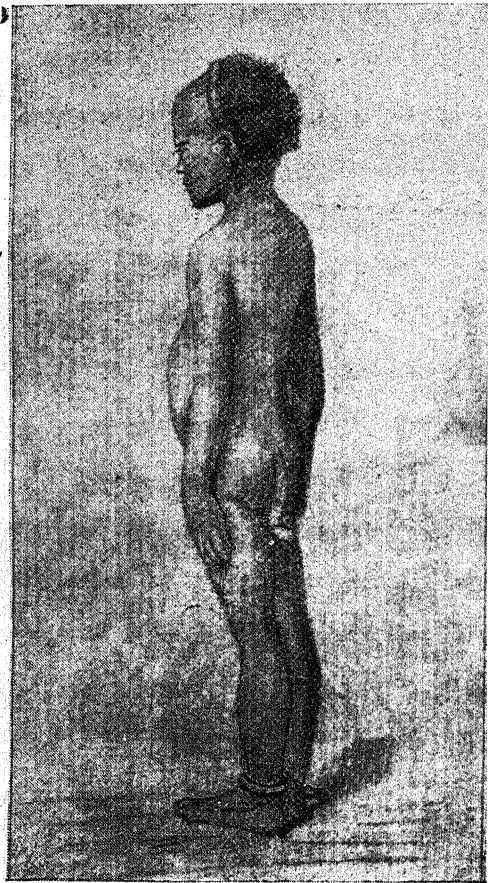
पूँछ वाला बालक

हैं ? इन अवयवों का गर्भ के श्वासोच्छ्वास में बिलकुल उपयोग नहीं होता, क्योंकि गर्भावस्था में मनुष्य के श्वासोच्छ्वास की क्रिया उसकी माता के द्वारा होती है। अलावा इसके मछली जैसे इन अवयवों का शीघ्र ही अर्थात् छठे सप्ताह में ही नाम-निशान भी नहीं रहता और उनका रूपान्तर हमारे कानों के कुछ भागों में हो जाता है। तब फिर मनुष्य को गर्भ में यह जो इतनी व्यर्थ खट-पट करनी पड़ती है, उसका क्या प्रयोजन ? इसकी उपपत्ति कैसे लगाई जाय ? इस प्रश्न का उत्तर शुरू में कहे हुए नियम का अनुसरण करके ही देना चाहिए; और वह इस प्रकार कि पहले कभी-न-कभी हम मछली-जैसे प्राणियों की अवस्था में से गुजरे होंगे और, हमारा निवास अवश्य ही उस समय पानी में रहा होगा। और, आनुवंशिकत्व के सबब, इस पहले की अवस्था का हमारी गर्भावस्था में थोड़ा-बहुत संस्कार मौजूद होना चाहिए।

गर्भशास्त्र में मनुष्य की पूँछ के बारे में मिलने वाला प्रमाण भी अत्यन्त आश्चर्यजनक है। मनुष्य और गिबन आदि बन्दरों को यदि आजकल पूँछ नहीं है तो भी दोनों में पहले कभी-न-कभी पूँछ जरूर रही होगी, यह बात गर्भशास्त्र से सिद्ध होती है। क्योंकि इन दोनों ही की गर्भावस्था में पूँछ मिलती है। मनुष्य का गर्भ जब एक महीने का होता है उस समय उसके दोनों पाँवों के जुड़ाव के बीच मुड़ी हुई पूँछ होती है और उसकी लम्बाई उस

समय के उसके पाँवों से दुगुनी होती है। इसपर से यह स्पष्ट है कि मनुष्य और बेपूँछ के बन्दर को पहले कभी-न-कभी पूँछ रही होगी।

इन दोनों ही को बाहर से देखने पर इनमें आजकल पूँछ नहीं मालूम पड़ती; मगर इनके इस भाग की भीतरी रचना देखें तो मनुष्य के शरीर में अभी भी पूँछ का अवशेष मौजूद है, यह स्वीकार करना पड़ेगा। क्योंकि मनुष्य की (गिबन इत्यादि बेपूँछ के बन्दरों पर भी यह बात लागू है) रीढ़ में मणि-माला की तरह चार छोटी-छोटी हड्डियाँ मिलती हैं और वे एक दूसरी में जुड़ी हुई होने के कारण उनकी एक बड़ी हड्डी बनी हुई दिखाई देती है। पशु अथवा पूँछदार बन्दरों की पूँछ के ढाँचे भी इसी तरह के दानों के बने हुए होते हैं और जिस प्रकार उनकी पूँछ मुड़ी हुई होती है उसी प्रकार हममें भी ये हड्डियाँ कुछ अन्दर की तरफ मुड़ी हुई होती हैं और इसके सबब बाहर से वे नहीं दीखतीं। कुछ लोगों के जब इस जगह पर बारम्बार दर्द होने लगता है उस समय डाक्टर लोग इस जगह आप्रेशन करके बहुत बार इस हड्डी को बिलकुल निकाल देते हैं और फिर उन लोगों का उस जगह का दर्द मिट जाता है। जिन लोगों का ऐसा आप्रेशन हुआ है वही वास्तविक पुच्छहीन हैं, ऐसा कहना चाहिए; और यह स्वीकार करना पड़ता है कि बाक़ी सब लोगों के यद्यपि बाहर से नहीं दीखती तो भी अबतक पूँछ मौजूद है।

मनुष्यों में अभी तक पूँछ मौजूद है, यही नहीं बल्कि जानवरों में जिस प्रकार पूँछ हिलाने के लिए इस जगह स्नायु होते हैं उसी प्रकार मनुष्यों में भी इस स्थान पर स्नायु हैं, ऐसा मालूम होता है। सिर्फ़ आजकल इन स्नायुओं में बिलकुल शक्ति न होने के सबब मनुष्य अपनी इस छोटी-सी पूँछ को हिला नहीं सकता। फिर जानवरों को अपनी पूँछ का निरन्तर उपयोग करना पड़ता है, इससे उनके स्नायुओं को हमेशा रक्त की ज़रूरत होती है; और वह रक्त पूँछ के स्नायुओं को एकसमान मिलता रहे, उस भाग में ऐसी व्यवस्था भी की हुई है। हृदय से निकलकर शरीर के मध्य-भाग से जो एक बढ़ी रक्तवह्नि नीचे तक जाती है उसके आगे की तरफ़ दो फाँके फूटकर वे दोनों पाँवों की ओर एक-एक करके जाती हैं। परन्तु इसी जगह उसमें एक बारीक टुकड़ा होकर वह पूँछ की ओर जाता है और इस प्रकार जानवरों की पूँछ में पर्याप्त रक्त होता है। मनुष्य को अपनी छोटी-सी पूँछ हिलाना न आने के कारण यद्यपि इस जगह रक्त की ज़रूरत नहीं तो भी उसके शरीर में इसी जगह इसी प्रकार की एक रक्तवह्नि जाती है, ऐसा मालूम पड़ता है। मतलब यह कि मनुष्यों में अभी-तक पूँछ के अवशेष हैं, यही नहीं बल्कि वह छोटी-सी पूँछ हिलाने की भी व्यवस्था है, यह कहना पड़ता है। अलावा इसके कभी-कभी एकाध मनुष्य में बाहर भी पूँछ की सी कोई चीज़

दिखाई पड़ती है, जिसका एक स्पष्ट उदाहरण चित्र नं० ३५ में दिखलाया गया है।

पूँछ की ही तरह मनुष्य के कानों की भी बात है। हम देखते हैं कि सब जानवर अपने कान और शरीर के ऊपर की चमड़ी हिला सकते हैं और इसका उपयोग उन्हें अपनी शरीर पर बैठने वाले मक्खी वग़ैरा कीड़ों को उड़ाने के काम में अच्छा होता है। मनुष्य यह बात अपने हाथों से कर सकता है, इससे अवश्य ही उसे कान हिलाने की जरूरत न हुई। अतः हमें अपने कान बहुत हिलाने नहीं आते। फिर भी मनुष्यों के कानों में अभी तक भी जानवरों की तरह कान हिलाने में उपयोगी होने वाले स्नायु हैं, यही नहीं बल्कि हममें से बहुत-से मनुष्य ऐसे मिलते भी हैं कि जो अपने कान हिला सकते हैं।

पृष्ठवंशीय (रीढ़ वाले) प्राणियों और उनमें भी ख़ासकर सस्तन प्राणियों का गर्भ आरम्भ में, लगभग एक महीने के अन्त में, क़रीब-क़रीब मिलता-जुलता ही होता है, जिससे एक-दूसरे को पहचानने में मुश्किल पड़ती है। परन्तु आगे जैसे-जैसे गर्भ की वृद्धि होती जाती है वैसे-वैसे ये गर्भ एक-दूसरे से भिन्न दीखने लगते हैं। उदाहरणार्थ दूसरे महीने में मनुष्य का गर्भ कुत्ते के अथवा पूँछदार बन्दरों के गर्भ में से पहचाना जा सकता है। परंतु मनुष्य और बेपूँछ के गिबन इत्यादि बन्दरों के गर्भ में बिलकुल

चित्र नं० ३६
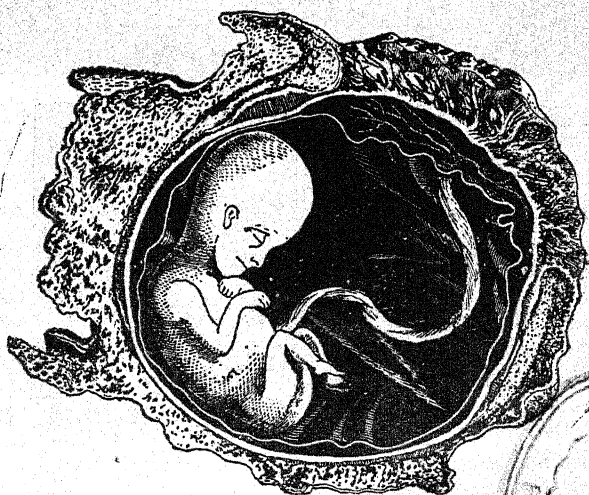
बालक—गर्भाशय के अन्दर

चित्र नं० ३७
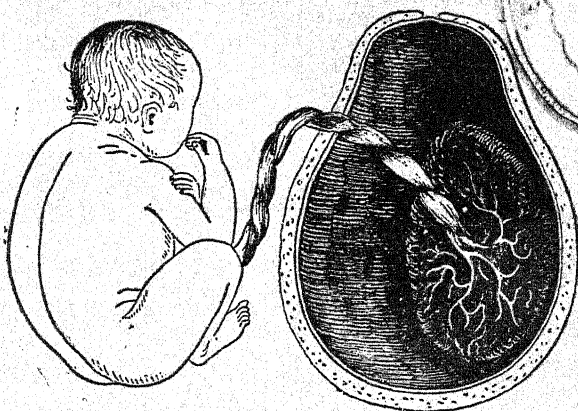
बालक—गर्भाशय के बाहर

चित्र नं० ३८
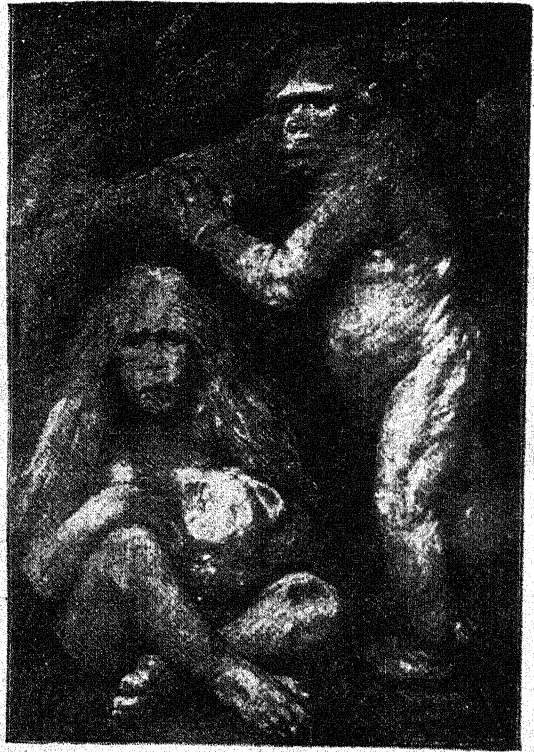
खड़े होकर चलने वाले बन्दर-मनुष्य
(Pithecanthropus Erectus.)

पूँछ तक साम्य दिखाई देता है। खासकर इन दोनों में गर्भ का पोषण होने के लिए जो एक के बाद एक क्रियायें और स्थित्यन्तर होते हैं, और गर्भ के आस-पास जो भिन्न-भिन्न पर्दे या झिल्लियाँ होती हैं, ये सब बातें मनुष्यों और गिबन इत्यादि बन्दरों में बिलकुल हूबहू मिलती हैं। यहाँ तक कि जिस प्रकार मनुष्यों में नाल के द्वारा माता के गर्भाशय से गर्भस्थ बालक तक रक्त पहुँचता है, उसी प्रकार इन बन्दरों में भी होता है। (चित्र नं० ३६)। बच्चा जब माता के गर्भाशय में होता है तब यद्यपि उसके फेफड़े होते हैं तथापि वह श्वासोच्छ्वास करना नहीं जानता और हमारी-सी तरह फेफड़ों के द्वारा उसे अपना रक्त शुद्ध करना नहीं आता। इसके लिए उसे दूसरे किसी साधन की जरूरत पड़ती है और वह साधन ऊपर कहे हुए नाल के द्वारा होनेवाला बच्चे और माता का सम्बन्ध है। इस नाल के रास्ते माता के गर्भाशय से पर्याप्त शुद्ध रक्त गर्भ में पहुँचकर उसका पोषण होता है। पैदा होने के बाद बच्चा श्वासोच्छ्वास करने लगता है। इससे उसे उपर्युक्त प्रकार की अपनी माता की मदद की जरूरत नहीं पड़ती। अतः बच्चा पैदा होने के बाद (चित्र नं० ३७) नाल काट डालते हैं और इस समय, पहले इससे रक्त आने के कारण, माता के गर्भाशय से बहुत-सा रक्त बाहर निकलकर उसके सबब माता बड़ी कमजोर हो जाती है। अतः इन सब बातों में हमारे और गिबन

इत्यादि बेपूँछ के बन्दरों में बिलकुल साम्य है। इसपर सहज ही यह कहा जा सकता है कि हमारे और उनके बीच सबसे अधिक नजदीक का सम्बन्ध होना चाहिए।

ऊपर के वर्णन से यह बात पाठकों के ध्यान में आ गई होगी कि गर्भशास्त्र में मिलने वाले मनुष्य के विकास सम्बन्धी प्रमाण कितने प्रबल हैं। विकासवादी इन प्रमाणों को बड़ा महत्व देते हैं और इनपर से प्राणियों का विकास ही सिद्ध नहीं करते बल्कि उनके मतानुसार इस शास्त्र के द्वारा इस बात का पता लगाना भी सम्भव है कि प्रत्येक प्राणी का विकास क्रमशः कैसे होता गया। जर्मन शास्त्रज्ञ अर्नेस्ट हेकेल ने मुख्यतः इन्हीं प्रमाणों के आधार पर 'मनुष्य का विकास' विषय पर दो बड़े-बड़े ग्रन्थ प्रकाशित किये हैं, जिनमें उसने यह बात सिद्ध की है कि मनुष्य का विकास बन्दर से हुआ। यही नहीं, उसका यह भी कहना है कि जिस अर्थ में समस्त पृष्ठवंशीय प्राणियों की गर्भावस्था में बहुत-कुछ साम्य होता है उस अर्थ में इन सब प्राणियों के पूर्वज भी एकही होने चाहिएँ। उसने यह सिद्धान्त निश्चित किया है कि किसी भी प्राणी की गर्भावस्था में जो-जो स्थित्यन्तर होते हैं वे सब मिलकर उस प्राणी के पूर्वज पहले किस-किस अवस्था में गुजरे होंगे उसका एक चित्रपट बन जाता है; और इसपर से उसने यह प्रतिपादन किया है कि जिस अर्थ में सब प्राणियों का जीवन एक

छोटे-से गोलक या अण्डे से शुरू होता है उस अर्थ में सब प्राणी अमीबा की तरह अत्यन्त सूक्ष्म, सादा और एककोषमय प्राणी से विकसित हुए होने चाहिएँ।

परन्तु आजकल के संशोधनों पर से यह स्वीकार करना पड़ता है कि हेकेल के इस कथन में बहुत-कुछ अतिशयोक्ति है। ऊपर दिया हुआ हेकेल का सिद्धान्त शब्दशः ठीक नहीं है। क्योंकि आनुवंशिकत्व के कारण, जिस-जिस अवस्था में से किसी प्राणी के पूर्वज गुज़रे होंगे, यद्यपि उस-उस अवस्था के अवशेष उस प्राणी में रहना सम्भव है तो भी सभी जगह यह सिद्धान्त लागू नहीं होगा। अर्थात् जिस-जिस अवस्था में से किसी प्राणी को अपनी गर्भावस्था में गुज़रना पड़ता है उस-उस अवस्था में से उसके पूर्वज अवश्य ही गुज़रे होने चाहिएँ, ऐसा नहीं कहा जा सकता। क्योंकि गर्भावस्था में एक के बाद एक आने वाली सब अवस्थाओं का विचार करने पर ऐसा कहना पड़ता है कि इनमें से कुछ अवस्थायें अपने आस-पास की परिस्थिति के कारण उत्पन्न होनी चाहिएँ, जब कि दूसरी कुछ अवस्थायें ऐसी हैं कि उनमें से गर्भ को गये बग़ैर उससे आगे की अवस्था में उसका जाना केवल असम्भव ही है। उदाहरणार्थ हमने देखा ही है कि प्रत्येक प्राणी की गर्भावस्था में जीवन का प्रारम्भ एक छोटे-से अण्डे अथवा कोष से होकर फिर क्रम-क्रम से उस एक कोष से दो,

चार, आठ इस प्रकार भाग होते जाते हैं और उनसे फिर क्रम-पूर्वक सारे अवयवों की वृद्धि होती जाती है। परन्तु इसपर से सब प्राणी एक कोष-मय, फिर द्विकोष-मय इत्यादि प्राणियों से ही हुए होने चाहिएँ, निश्चय-पूर्वक यह कहना ठीक न होगा। क्योंकि दो कोष अथवा दोनों ही के चार कोष होने की शुरुआत में एक या दो कोष होने ही चाहिएँ। परन्तु साधारणतः इस तरह से वृद्धि होना सम्भव नहीं। अतः इस तरह गर्भावस्था के सारे स्थित्यन्तरों का विचार करके ऊपर दी हुई दो प्रकारों से उत्पन्न होने वाली सब अवस्थाओं को छोड़ देकर फिर जो कोई अवस्था शेष रहे केवल वही आनुवंशिकत्व के सबब गर्भ को प्राप्त होती है, ऐसा कहना युक्तिसंगत होगा।

ऊपर दी हुई विचार-शैली से यह ध्यान में आवेहीगा कि हेकेल का सिद्धान्त सम्पूर्ण-रूप से ठीक नहीं है। हेकेल द्वारा 'मनुष्य का विकास' पुस्तक में मनुष्य के गर्भ की वृद्धि के सम्बन्ध में दिये हुए कुछ चित्र भी ठीक नहीं हैं, यह भी उसकी ग़लती हुई है। इस ग़लती का लाभ उठाकर प्रतिपक्षियों ने हेकेल पर काफी वाहियात आक्षेप करके यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि उसकी पुस्तक बिलकुल रद्दी है और निधड़क होकर यह प्रतिपादन किया है कि विकास के बारे में गर्भशास्त्र में कोई प्रमाण नहीं मिलते। परन्तु कहना पड़ेगा कि यह सब धर्मान्धता और

पक्षपात से पैदा हुए पूर्वग्रह ही का परिणाम है। क्योंकि केवल परिस्थितिवश उत्पन्न होने वाली अथवा शास्त्रीय तौर पर आवश्यक गर्भावस्था की सब बातों को यदि छोड़ दें तो भी अन्त में कई ऐसी बातें बच रहती हैं कि जिनकी उपपत्ति अन्य किसी प्रकार नहीं लगती। उदाहरण के लिए मनुष्य की गर्भावस्था की वृद्धि दिखाने वाली दो-तीन बातें ऊपर दी गई हैं। किसी-किसी प्राणी की गर्भावस्था में वृद्धि होते हुए उसके बीच ही में एकाध अवयव पैदा होता है, वह खूब बढ़ता है, और अन्त में नहीं-सा रहता है (जैसे, मनुष्यों की पूँछ अथवा गर्दन के आस-पास की चीरा नसें) और इस सब क्रिया में उस प्राणी का बहुत-सा समय और बहुत-सी शक्ति खर्च होती है। तब बिला वजह चलने वाली इस सारी खटपट की कोई उपपत्ति है या नहीं ? जिस अर्थ में वह अवयव पैदा होने से पहले ही नहीं-सा हो जाता है उस अर्थ में उपयोग की दृष्टि से उस प्राणी को उसकी कोई ज़रूरत नहीं, यह स्पष्ट है। अलावा इसके यह अवस्था उसके आगे की अवस्था के लिए पोषक अथवा आवश्यक है अथवा वह आस-पास की परिस्थिति के सबब उत्पन्न हुई है, यह भी नहीं कहा जा सकता। तब क्या यह कहा जायगा कि यह सब खटपट व्यर्थ अथवा बिला वजह हुई ? इस प्रश्न का उत्तर एक ही दिया जाना चाहिए, और वह पहले कहे अनुसार ही; वह इस प्रकार कि इस अवयव

का उस प्राणी में पहले कभी-न-कभी उपयोग होता रहा होगा। मतलब यह कि अत्यन्त प्राचीन काल में उसके पूर्वजों में वह अवयव रहना चाहिए।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि गिबन, ओरंग वग़ैरा बे-पूँछ के बन्दरों और मनुष्यों का कुछ-न-कुछ सम्बन्ध अवश्य होना चाहिए। मनुष्यों के मन व बुद्धि की बात छोड़ दें तो भी उनके शरीर के सम्बन्ध में तो ऐसा विधान करने में कोई हर्ज नहीं। मनुष्यों का और इन बन्दरों का कुछ-न-कुछ सम्बन्ध है, यह बात गर्भशास्त्र के ऊपर दिये हुए प्रमाणों के अलावा और भी एक-दो इसी तरह की रीतियों से सिद्ध होती है। अतः अब हम उनपर विचार करेंगे।

कुछ वर्ष पूर्व जर्मनी में डा० फ्रीडेण्टल ने बहुत-से प्राणियों के रक्त-सम्बन्धों के प्रयोग किये। उसने कुछ प्राणियों का रक्त लेकर, सूक्ष्मदर्शक यंत्र की मदद से, यह देखा कि दोनों प्राणियों के रक्त का मिश्रण करने पर एक प्राणी के रक्त की दूसरे प्राणी के रक्त पर क्या प्रक्रिया होती है। शोध के अन्त में उसे मालूम पड़ा कि यदि दो बिलकुल भिन्न जाति के प्राणियों का रक्त एक-दूसरे में मिलाया जाय तो एक प्राणी का रुधिर-कोष दूसरे प्राणि के रुधिर-कोष का नाश कर देता है। उदाहरणार्थ, कुत्तों का रक्त यदि घोड़े या बिल्ली के रक्त में डाला जाय तो

एक के संयोग से दूसरे के रुधिर-कोष का नाश हो जाता है। इसके विपरीत यदि किसी कुत्ते का रक्त हम दूसरे कुत्ते के रक्त में मिलावें तो उसका एक-दूसरे पर कोई बुरा असर नहीं होता और वह कोष सजातीय की भाँति एक-दूसरे में मिल जाता है। अथवा यदि हम जैसे पीव निकालते हैं उस प्रकार पिचकारी-द्वारा कुत्तों का रक्त बिल्ली के शरीर में पहुँचायें तो उसका असर बिल्ली पर किसी विष के समान अनिष्टकारक होता है। परन्तु ऐसे ही किसी बिल्ली का रक्त दूसरी बिल्ली के शरीर में डाला जाय तो उसका कुछ भी असर नहीं होता। इसपर फ्रीडेण्टल का कहना है कि जो प्राणी एक ही जाति के होते हैं, अर्थात् जिनकी उत्पत्ति एक ही पूर्वजों से हुई होती है और इसीलिए जिनका एक-दूसरे से रक्त-मांस का सम्बन्ध होता है, उन प्राणियों के रुधिर-कोष सजातीय होने के कारण उनका एक-दूसरे पर कुछ भी अनिष्ट परिणाम नहीं होता। इसी प्रकार जिन प्राणियों का एक-दूसरे से बिलकुल ही नज़दीक का सम्बन्ध है, उन प्राणियों के रक्त से एक-दूसरे पर अनिष्ट प्रक्रिया नहीं होती।

अब यही बात जब हम मनुष्य के रक्त पर लागू करें तो ऐसा मालूम होता है कि मनुष्य का रक्त यदि ओरंग, चिम्पञ्जी, गुरिल्ला इत्यादि बेपूँछ के मनुष्यों-जैसे बन्दरों के शरीर में डालें तो उसका असर इन बन्दरों पर अनिष्ट-रूप नहीं होता। परन्तु यदि

मनुष्यों का रक्त इन बन्दरों से नीचे दर्जे के बन्दरों के अर्थात् पूँछ वाले बन्दरों के शरीर में डाला जाय तो उसका अनिष्ट परिणाम होता है—अर्थात्, वह उनके लिए ज़हर सिद्ध होता है। इसपर से डा० फ्रीडेएटल का कहना है कि मनुष्य और गिबन, ओरंग आदि मनुष्य जैसे बन्दरों का परस्पर रक्त-मांस का सम्बंध है। तदुपरान्त शास्त्रज्ञों ने इस विषय में जो संशोधन किया है उसपर से यह मानें कि उपर्युक्त उपपत्ति शब्दशः ठीक नहीं, तो भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इसमें बहुत-कुछ तथ्यांश है। निदान इस शोध पर से इतना तो ख़ास तौर पर कहा जायगा कि जिन दो प्राणियों का रक्त मिलने पर भी उनका एक-दूसरे पर अनिष्ट-रूप कोई परिणाम नहीं होता, उन प्राणियों के रक्त की रचना एक-दूसरे के समान होनी चाहिए और उनका परस्पर कुछ-न-कुछ सम्बन्ध अथवा रिश्ता होना चाहिए। अब तो डाक्टर लोग पीलिया जैसे रोगों में किसी नीरोग मनुष्य का रक्त दूसरे रोगी मनुष्य में डालते हैं, और इसमें जहाँ तक हो सके नीरोग मनुष्य रोगी मनुष्य का नज़दीकी रिश्तेदार मिले तो सबसे ज्यादा उसे ही पसन्द किया जाता है। इसका कारण ऊपर कहे हुए डा० फ्रीडेएटल के प्रयोग व शोध में ही है।

यह बता देना अप्रासंगिक न होगा कि उपर्युक्त शोध का व्यवहार में किस प्रकार उपयोग किया जाता है। कभी-कभी

क़त्ल के मुक़द्दमे में ख़ूनी का पता लगाने के लिए उसके कपड़ों पर पड़े हुए ख़ून के धब्बों का बड़ा उपयोग होता है। परन्तु ऐसे समय यह देखना पड़ता है कि धब्बे मनुष्य ही के ख़ून के हैं अथवा किसी दूसरे प्राणी के ख़ून के हैं। क्योंकि पुलिस वाले कई बार धन की आशा से अथवा अपनी इज़्ज़त बचाने के लिए किसी संशयित मनुष्य को पकड़ कर अदालत के सामने पेश करते हैं और सबूत के लिए ख़ून के ग़लत दाग़ों को बताते हैं। रक्त ताज़ा और आर्द्र हो तो सूक्ष्मदर्शक यंत्र की सहायता से यह पहचानना मुश्किल नहीं होता कि वह मनुष्य ही का है या दूसरे प्राणी का है। परन्तु यदि वह सूखा हुआ हो तो उसका पहचानना बड़ा मुश्किल होता है। ऐसे समय यह बात उपर्युक्त शोध के द्वारा सहज निश्चय की जा सकती है। क्योंकि सूखे हुए रक्त को जब पानी में घोलकर मनुष्य के रक्त में मिलाया जाय और उस-पर उसका कोई परिणाम होता न मालूम दे तो वह दाग़ मनुष्य ही के रक्त का है, ऐसा कहा जायगा; और इस सबूत से आरोपी पर अपराध सिद्ध होने में बड़ी मदद मिलेगी। इसके विपरीत यदि मनुष्य के रक्त से इस रक्त की अनिष्ट प्रक्रिया हो तो वे दाग़ दूसरे किसी प्राणी के रक्त के हैं, यह सिद्ध होकर वह आरोपी छूट जायगा।

इसी तरह की और भी कुछ शोधें हाल में हुई हैं। चिकित्सा-

शास्त्र में यह बात मिलती है कि कुछ रोग सिर्फ मनुष्यों को ही होते हैं, जानवरों को नहीं होते। जैसे कुकुर खाँसी, उपदंश, प्रमेह आदि। साधारणतः जानवरों में ये रोग नहीं होते, यहाँ तक कि मनुष्यों के संसर्ग से भी ये उन्हें नहीं सताते। और यह बहुतों को मालूम ही होगा कि मनुष्यों में बहुत-से रोग ऐसे हैं, जिनके होने में उस-उस रोग के कीटाणु कारणीभूत होते हैं। परन्तु ऊपर कहे हुओं में से कुछ रोगों के कीटाणुओं को जानवरों के शरीर पर लाकर छोड़ने पर भी इससे ये रोग नहीं होते, ऐसा देखा जाता है। बन्दरों पर यह परीक्षण करने पर गिबन आदि बे पूँछ के बन्दरों में तो इन रोगों के सब लक्षण दीखने लगते हैं, परन्तु पूँछदार बन्दरों को इससे कुछ भी नहीं होता। आजकल लस का इंजेक्शन करके रोग अच्छा करने की जो नवीन पद्धति प्रचार में आई है, उसमें अमुक लस से अमुक रोग अच्छा होगा या नहीं, यह निश्चय करने से पहले इन बन्दरों में उस लस का इंजेक्शन करके देखा जाता है। उनमें यदि वह प्रयोग परिणामकारक हो तो फिर मनुष्यों पर भी उसका उपयोग किया जाता है। इसपर से इस उपपत्ति को पुष्टि मिलती है कि मनुष्य और बे-पूँछ के बन्दरों का अत्यन्त निकट का सम्बन्ध है। रह गये प्राच्य-प्राणिशास्त्र में मिलने वाले प्रमाण। अब हम उनपर विचार करेंगे। मनुष्य के दिमाग का विचार करते

समय इन प्रमाणों का थोड़ा-सा उल्लेख किया गया है, यह पाठकों को स्मरण होगा। वहाँ यह कहा था कि जावा आदि भूभागों में हाल ही प्राचीन मनुष्यों की जो ठठरियाँ मिली हैं उनमें जैसे-जैसे हम प्राचीनता की ओर जाते हैं वैसे-वैसे मनुष्यों के दिमाग़ का आकार कम-कम होता हुआ दिखाई पड़ता है। अब विकास-वादियों के मत से गिबन या गुरिल्ला सरीखे बे-पूँछ के किसी बंदर को मानव-जाति का पूर्वज मानें तो अवश्य ही आजकल के मनुष्य और ये बे-पूँछ के मनुष्य-जैसे बन्दर, इन दोनों के बीच के कुछ प्राणी हमें ठठरियों के रूप में मिलने चाहिएँ। इस बात पर बहुत दिनों तक विकासवाद के विरोधियों ने अपना आधार रक्खा और वे यह प्रतिपादन करते थे कि जबतक बीच की ये ठठरिय नहीं मिलतीं तबतक ऐसा कहने को बिलकुल गुंजाइश नहीं है कि मनुष्य बन्दर से विकसित हुआ। उपर्युक्त विचार-शैली में यह दोष है कि इसमें इस बात का बिलकुल विचार नहीं किया गया है कि ठठरियों के रूप में प्राणियों का अवशेष रहना और उसका मिलना कितना दुरूह होता है। परन्तु यह बात भी छोड़ दें तो भी अन्त में इन लोगों के दुर्भाग्य से डा० ड्यूबाई नामक एक डच शास्त्रज्ञ को १९०२ ई० में जावा-द्वीप में ज़मीन खुरचते-खुरचते खोपड़ी का कुछ भाग, दो दाँत और जाँघ की हड्डियाँ, इतने अवशेष मिल ही गये। इनका ध्यानपूर्वक अध्ययन करके उसने यह निश्चय

किया कि ये अवशेष मनुष्यों व बन्दरों के बीच के प्राणियों के होंगे और उन प्राणियों का उसने 'खड़े होकर चलनेवाला बन्दर-मनुष्य' (The upright apeman or pithecan-thropus erectus) नाम रक्खा (चित्र नं० ३८)। उनकी पेशानी दबी हुई और सकड़ी थी,खोपड़ी के अन्दर के भाग में दिमाग के खुरदरेपन से निशान बने हुए थे। खोपड़ी के आकार पर से डा० ड्यूबाई ने उसके दिमाग का आकार सामान्य तौर पर निश्चित किया तो ऐसा मालूम पड़ा कि वह बे-पूँछ के बन्दर के दिमाग का दुगुना होना चाहिए। प्राणिशास्त्र में निष्णात बहुत-से शास्त्रियों का मत है कि ये अवशेष हमारे अत्यन्त प्राचीन पूर्वजों के, उन्हें प्रत्यक्ष तौर पर मनुष्य की स्थिति प्राप्त होने से पहले और बन्दर की स्थिति से बहुत आगे जाने के बाद के हैं।

इसके बाद, अर्थात् १९०७ ई० में, जर्मनी में हैएडेलबर्ग शहर के निकट ऐसी और भी कुछ ठठरियाँ मिलीं। ये ठठरियाँ सिर्फ ऊपर के जबड़े और उनके कुछ दाँतों की ही थीं। और उसीके पड़ोस में ऐसे कुछ प्राणियों (हाथी, गेण्डा, सिंह) की भी ठठरियाँ मिलीं, जिनका आजकल यूरोप में नामशेष हो गया है। इन जबड़ों व दाँतों की ध्यान-पूर्वक जाँच करने के बाद बहुत-से प्राणि-शास्त्रियों ने निश्चय किया कि उनमें के दाँत हूबहू मनुष्यों के दाँतों जैसे थे, परन्तु जबड़े का कुल आकार व उसकी रचना

मनुष्यों जैसी न होकर बन्दरों जैसी थी। उदाहरणार्थ मनुष्य-जैसे बन्दरों में जिस प्रकार ठोड़ी (ठुड्डी) नहीं होती, उसी प्रकार इस जबड़े में भी ठोड़ी न थी। अतएव, इन ठठरियों से भी यही अनुमान निकलता है कि उस समय—अर्थात्, लगभग तीन लाख वर्ष पूर्व—यूरोप में मनुष्य तथा मनुष्य-जैसे बन्दरों के बीच के प्राणी रहते थे और उस समय यूरोप में हाथी, सिंह व गेण्डे भी होते थे।

इसके बाद भी अनेक स्थानों पर जो ठठरियाँ मिली हैं, उन-पर से भी यही कहना पड़ता है कि लगभग दो-ढाई लाख वर्ष पहले उपर्युक्त दो जातियों—मनुष्य और बन्दर—की अपेक्षा भिन्न कोई तीसरे ही प्राणी पृथ्वी पर बसते थे। वे प्राणी आज-कल के प्राणियों के परिमाण में ठिंगने होंगे और चलते समय उनके कूब निकलती होगी। परन्तु वे पत्थर के आयुध तैयार करने में बड़े प्रवीण होंगे, क्योंकि इस तरह के अनेक आयुधों के अवशेष आज भी मिलते हैं। इसी प्रकार उन्हें अग्नि का उप-योग भी विदित था और अपने सजातीयों के मरने पर वे उसकी उत्तर-क्रिया भी करते थे। इनका दिमाग़ पहले कही हुई दोनों जातियों के दिमाग़ की अपेक्षा बड़ा था। परन्तु इतना होने पर भी उनका पेट कुल मिलाकर बन्दर जैसा ही होगा, ऐसा प्रतीत होता है। क्योंकि बन्दरों की तरह उनका जबड़ा मोटा था और उनकी भौंहें

भी बन्दरों की भाँति बहुत आगे आई हुई थीं। तात्पर्य यह कि पहले की दोनों जातियों की भाँति इन प्राणियों को भी अभी पूरी तरह मनुष्यत्व प्राप्त नहीं हुआ था। इस जाति को निआनडर्टल (Neandertal) कहते हैं।

इसके बाद, अर्थात् १९१२ ई० में, इंग्लैण्ड के ससेक्स प्रान्त में खोपड़ी के कुछ भागों, कुछ दाँतों और नीचे के जबड़े के कुछ अवशेष मिले। जिस जगह से ये अवशेष मिले उसपर से ये लगभग डेढ़ लाख वर्ष पहले के होने चाहिएँ, ऐसा मालूम पड़ता है। इन खोपड़ियों पर से उन प्राणियों के दिमाग़ की रचना का जो अन्दाज़ सर आर्थर कीथ ने लगाया है। उसपर से ऐसा मालूम पड़ता है कि उनके दिमाग़ की रचना बिलकुल छोटी बातों को छोड़ दें तो हूबहू आजकल के मनुष्यों के दिमाग़ की रचना जैसी होनी चाहिए। इसपर से आर्थर कीथ का कहना है कि इन प्राणियों का सारा व्यवहार हमारी ही तरह होता होगा—अर्थात्, कीथ के मतानुसार, इन प्राणियों को पूरी तरह मनुष्यत्व प्राप्त हो गया था। डा० स्मिथ वुडवर्ड के मतानुसार ये प्राणी पहले के तीन प्राणियों की भाँति मनुष्य और बन्दरों के बीच के ही थे; परन्तु उन तीनों की अपेक्षा मनुष्यत्व की ओर वे अधिक आगे बढ़ चुके थे।

इसके बाद के भूभागों में, अर्थात् लगभग २० से ५० हज़ार

वर्ष पहले के भूभागों में, यूरोप और अमेरिका में मनुष्य-नुमा प्राणियों के जो अवशेष मिले हैं उनपर से यह सिद्ध होता है कि उस समय वस्तुतः बिलकुल हमारे जैसे ही मनुष्य पृथ्वी पर रहते थे—अर्थात्, इससे पहले ही कहीं-न-कहीं मनुष्य का विकास पूरा हो चुका था। कारण, इन ठठरियों पर से, ऐसा दिखाई पड़ता है कि उनका दिमाग़ बड़ा था, कपाल चौड़ा व ऊँचा था, और उनकी ठुड्डी भी अच्छी थी। मतलब यह कि उनके चेहरे की रचना बिलकुल मनुष्यों के चेहरे की रचना जैसी थी। ये ठठरियाँ जिस दरार में मिलती हैं उस दरार की तह के पत्थरों पर नग्नावस्था के कुछ खुदे हुए चित्र भी मिलते हैं। उन चित्रों पर से उनके रहन-सहन की थोड़ी-बहुत कल्पना हमें होती है और उसपर से ऐसा मालूम पड़ता है कि उनका कुल जीवन आजकल के बिलकुल जंगली स्थिति वाले मनुष्यों के जीवन से विशेष भिन्न नहीं होगा। इसके बाद जैसे-जैसे हम अर्वाचीन काल की ओर आने लगते हैं वैसे-वैसे मनुष्यों की ठठरियाँ अधिक मिलती हैं और उनके साथ जो कुछ पत्थर, कांसी और ताँबे आदि के आयुध अथवा अन्य पदार्थ मिलते हैं उनपर से इसके बाद मनुष्य का विकास कैसे-कैसे होता गया, उस विकास के रूप क्या थे, और इकट्ठी मनुष्य जाति की भिन्न-भिन्न शाखायें कैसे-कैसे एवं कहाँ-कहाँ उत्पन्न हुईं व फैलीं, इस सम्बन्धी बहुत-सी

जानकारी हमें मिल सकती है। परन्तु यह वास्तविकता मानों मानव-वंश-शास्त्र का तो एक इतिहास (Anthrapo'ogy) ही होगा। और इस समय हमें उसकी कोई जरूरत नहीं है।

प्राच्य-प्राणिशास्त्र नया ही निर्मित हुआ है और दिन-ब-दिन बड़ी तेजी से बढ़ रहा है। यह ध्यान में रखने पर यह बात पाठकों के ध्यान में आवेगी कि इस शास्त्र में से हमें अबतक मनुष्य के विकास-सम्बन्धी मिले हुए प्रमाण यद्यपि बहुत नहीं हैं। मगर कम या उपेक्षणीय भी नहीं हैं। अलावा इसके इस शास्त्र का संशोधन आज तक यूरोप और अमेरिका में बहुत-कुछ हुआ है और विशेषज्ञों के मतानुसार मनुष्य की उत्पत्ति का आरम्भ मध्य-एशिया के किसी स्थान से हुआ होगा। अतएव, मध्य-एशिया में जगह-जगह ज़मीन खोद कर मिलनेवाली ठठरियों का जैसे-जैसे अध्ययन होगा वैसे-वैसे इस शास्त्र में से मनुष्य के विकास-सम्बन्धी और भी जोरदार प्रमाण सामने आ जायँगे, इसमें संदेह नहीं।

ऊपर के सारे प्रमाणों पर से यह बात सिद्ध होती है कि पुच्छ-हीन और मनुष्य-नुमा बन्दरों का और हमारा बहुत नजदीकी सम्बन्ध है, वे हमें आजकल उपलब्ध होने वाले हमारे नजदीकी पूर्वज हैं। अब हमारे और बन्दरों के बीच का सम्बन्ध किस तरह होगा, इस प्रश्न पर दो मत हैं। कुछ शास्त्रियों का मत है

१ गिबन २ ओरंग ३ चिम्पञ्जी ४ गुरिल्ला ५ आफ्रिकन ६ आस्ट्रेलियन
७ मंगोलियन ८ यूरोपियन ।
१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८
अर्वाचीन और प्लिस्टोसीन
४,००,००० वर्ष
प्लिओसीन
५,००,००० वर्ष
मिओसीन
९,००,००० वर्ष
आलीजोसीन
११,००,००० वर्ष
एओसीन
१२,००,००० वर्ष
१—आजकल के मनुष्य २—पिल्टडाउन मनुष्य ३—निआण्डरटल मनुष्य (Neander Tal Man) ४—बन्दर-मनुष्य (Pithacanthropus) ५—मानव शाखा ६—मनुष्य व बड़े बन्दरों की सामान्य शाखा ७—बन्दरों की शाखा ८—एशिया, आफ्रिका व यूरोप में बन्दरों की शाखायें ९—अमेरिका में बन्दरों की शाखा १०—मनुष्य-बन्दर और मनुष्य तथा बन्दरों के सामान्य पूर्वज ।
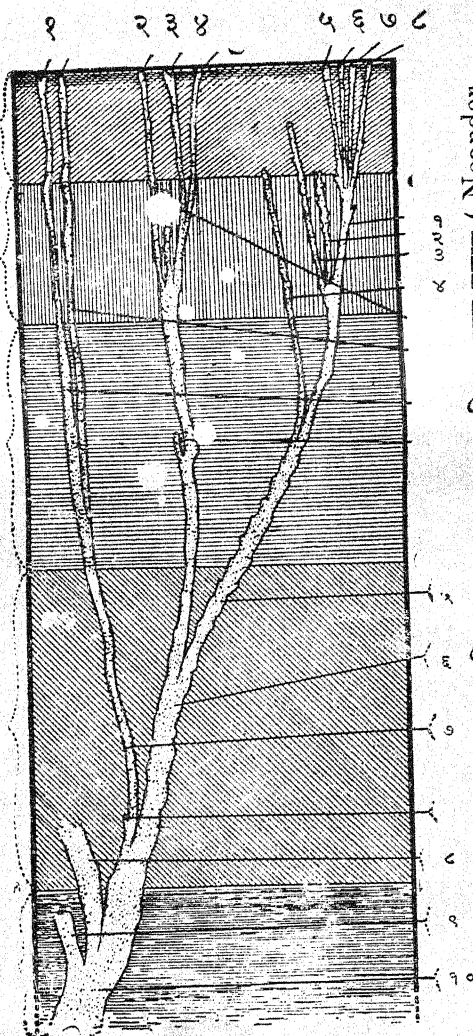
चित्र नं० ३६

चित्र नं० ४०

चार्ल्स डार्विन

विकासवाद का आचार्य

कि आजकल के गिबन, ओरंग इत्यादि पुच्छहीन बन्दर और मनुष्यों का निकट-सम्बन्ध है। उनके मतानुसार मनुष्यों के पूर्वज इन चारों (गिबन, ओरंग, चिम्पन्झी, गुरिल्ला) में से कोई न कोई थे और उससे विकास होते-होते अन्त में मनुष्य का अवतरण हुआ। अर्थात् उनके मतानुसार मनुष्य-प्राणी इन बन्दरों का औरस-वारिस है। इसके विरुद्ध दूसरे कुछ शास्त्रज्ञों का कहना यह है कि मनुष्य और पुच्छहीन बन्दर ये दोनों एक तीसरे ही मूल प्राणी से उत्पन्न दो विभिन्न वंश हैं। अर्थात्, इन लोगों के मतानुसार, बन्दरों और मनुष्यों का एक-दूसरे से यद्यपि कुछ सम्बन्ध है, उनका एक-दूसरे से कुछ रिश्ता है, तथापि वह सम्बंध बहुत दूर का है—अर्थात् कई पीढ़ियों से टूटता चला आ रहा है। पहले पक्षवालों के मतानुसार बन्दर व मनुष्य का सम्बन्ध किसी वृक्ष के तने और शाखा की लकड़ी के सम्बन्ध जैसा है, जबकि दूसरे पक्षवालों के मतानुसार एक ही तने से आगे जो अनेक शाखा-उपशाखायें फूटती हैं उनमें दूर फ़ासले पर होनेवाली शाखाओं में होनेवाले सम्बन्ध जैसा है। यह मनुष्य और बन्दर के बीच का आजकल का सम्बन्ध है और आजकल यही मत बहुसम्मत है (चित्र नं० ३९)।

पशुओं का मन और बुद्धि

पिछले अध्याय में सिर्फ शरीर की दृष्टि से मनुष्य के क्रम-विकास का विचार किया गया है; साथ ही इस बात पर भी उसमें विचार किया गया है कि यह मानने के लिए हमारे पास क्या प्रमाण हैं कि मनुष्य का शरीर पशु और वह भी खासकर पुच्छहीन बन्दरों के शरीर से क्रमशः विकसित हुआ है। मनुष्य-शरीर के क्रम-विकास के बारे में यद्यपि अनेक प्राणिशास्त्रियों का एकमत है, फिर भी विद्वत्समाज में मनुष्य के मानसिक विकास के बारे में बड़ा भारी मतभेद है—यह बात पहले कही ही जा चुकी है। इसीलिए मनुष्य के मानसिक विकास का

प्रश्न कुछ समय के लिए एक ओर छोड़कर पहले हमने इस प्रश्न पर विचार किया है कि उसके शरीर का क्रम-विकास भी बन्दर से हुआ या नहीं। अतः अब इस तथा इससे आगे के अध्याय में हम मनुष्य के मानसिक क्रम-विकास के बारे में विचार करेंगे।

पाठकों को स्मरण होगा कि इस वाद का दिग्दर्शन कराते हुए पहले यह बताया जा चुका है कि यह वाद किस स्वरूप का है। वाद का मुख्य प्रश्न मानों यह है कि मनुष्य के मन का विकास पशु के मन से होना सम्भव है या नहीं? पशु का मन और उसकी बुद्धि तथा मनुष्य के मन और उसकी बुद्धि के बीच बड़ा भारी अन्तर है, इस बात को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। तथापि प्रश्न यह है कि इस अन्तर पर से यह कहा जायगा कि पशु का मन और मनुष्य का मन दोनों भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं, उनमें एक-दूसरे से साधर्म्य बिलकुल नहीं है, इस-लिए हम एक-दूसरे की तुलना ही नहीं कर सकते; अथवा यह कहा जायगा कि उनकी मानसिक शक्ति में यह अन्तर इतने आत्यन्तिक स्वरूप का न होकर केवल उनमें के कम-अधिक दर्जे ही प्रकट करने वाला है? कुछ लोग पहली विचार-शैली को स्वीकार करके यह प्रतिपादन करते हैं कि मनुष्य और पशु के मन का एक-दूसरे से कोई सम्बन्ध नहीं है और इसलिए इनमें से किसी एक का विकास दूसरे से होना सम्भव नहीं है। इसके

विपरीत विकासवादी यह कहते हैं कि यह विचार-शैली सदोष है और मनुष्य का मन एवं बुद्धि पशु के मन एवं बुद्धि की केवल परिणत अवस्था है। इस वाद को ठीक तौर पर समझने के लिए हमें पहले यह समझ लेना आवश्यक है कि वास्तव में मन और बुद्धि तथा उनके लक्षण हैं क्या। यहाँ पर इसका कुछ विचार कर लेना चाहिए।

हम यह मानते हैं कि हममें मन छठी (पाँच ज्ञानेन्द्रिय और पाँच कर्मेन्द्रिय मानें तो ग्यारहवीं) इन्द्रिय है और इस इन्द्रिय का धर्म (काम) विचार करना है। मन की यह व्याख्या तात्त्विक दृष्टि से ठीक हो, फिर भी व्यावहारिक दृष्टि से और विशेषतः हमारे सामने के प्रश्न की दृष्टि से हमें उसका कुछ बहुत उपयोग नहीं होगा। कारण कि उपर्युक्त लक्षणों से बहुत हुआ तो हम अपने खुद के मन की प्रतीति या परीक्षा कर सकेंगे। परन्तु हमें जब अपने से भिन्न व्यक्ति में—फिर वह व्यक्ति मनुष्य या जानवर कोई भी क्यों न हो— मन होने-न-होने का निश्चय करना हो तो वहाँ इन लक्षणों का भला क्या उपयोग होगा? क्योंकि उस व्यक्ति के सिर के अन्दर उसे विचार करना आता है या नहीं, अथवा उसमें मन है या नहीं, इसका तजुर्बा हमें कैसे होगा? ऐसी दशा में उस व्यक्ति को विचार करना आता है या नहीं, अथवा उसमें मन है या नहीं, यह बात हमें जरा भिन्न और

अप्रत्यक्ष रीति से ही निश्चय करनी होगी; और यह रीति मानों उस व्यक्ति के आचरण अथवा कार्यों को देखकर निश्चय करना है। किसी भी व्यक्ति को हम लें, वह अपने जीवन में अनेक भिन्न-भिन्न क्रियायें करता है। उदाहरणार्थ, खाना, पीना, सोना इत्यादि क्रियायें सब प्राणी—फिर वे चाहे छोटे हों या बड़े, ऊँचे दर्जे के हों या अत्यन्त नीचे दर्जे के—निरन्तर करते रहते हैं। फिर ये सब क्रियायें उस-उस व्यक्ति के मन को साक्षी देती हैं अथवा उनमें की कुछ विशिष्ट क्रियायें मन की द्योतक हैं? इनमें से प्रत्येक क्रिया को मन की द्योतक मानना कदापि ठीक नहीं हो सकता। कारण कि इनमें से कुछ क्रियायें ऐसी होती हैं कि उनमें विचार का और इसलिए मन का बिलकुल भी सम्बन्ध नहीं होता। उस क्रिया को वह व्यक्ति सिर्फ किसी यंत्र की नाईं करता रहता है। उसे तो यह कल्पना तक नहीं होती कि इस क्रिया को मैं कर रहा हूँ। बिलकुल नीचे के दर्जे के अर्थात् अमीबा-जैसे जो एक कोषमय प्राणी होते हैं उनकी बहुत सी क्रियायें इसी तरह की होती हैं। दूर क्यों जायँ, हम खुद ही कितनी क्रियायें ऐसी करते हैं, जिनका हमें ज्ञान नहीं होता। उदाहरणार्थ हमारी आँख के सामने कोई चीज आते ही पलकें अपने-आप मिच जाती हैं और हमें इसका भान तक नहीं होता। अमुक एक चीज हमारे सामने आती है और उससे आँख को

चोट पहुँचना सम्भव है, इसलिए आँखें मिचनी चाहिएँ, इस प्रकार की विचार शैली मन में आकर पश्चात् हम इस हेतु से अपनी आँख मीचते हों, ऐसी बात बिलकुल नहीं है। तब फिर आँखें बन्द होने की क्रिया कैसे होती है ? कोई चीज हमारे नेत्रों के सामने आते ही प्रकाश की तरंग के योग से हमारे नेत्रों पर एक प्रकार का आघात होता है। यह आघात हमारे नेत्रों की पलकों पर पड़ने के साथ ही तुरन्त ज्ञानतन्तु के द्वारा यह बात-तार-यंत्र के संदेश की भाँति उस तन्तु से लगे हुए एक कोष-चक्र में जाती है। वहाँ से वह आगे दिमाग में, अर्थात् मन की मुख्य अदालत में, न जाकर वहीं से दूसरे रास्ते, अर्थात् क्रिया-वाहक तन्तु में होकर, वापस नेत्रों की तरफ आती है और हमारे नेत्रों की पलकों में जो स्नायु हैं उनतक पहुँचती है। और तब पलकों के स्नायु अवश्य ही उस आज्ञा के अनुसार संकोचन पाते हैं, जिससे पलकें भिचती हैं. और यह सब काम निमेष-मात्र में हो जाता है। इसपर से ध्यान में आयगा कि इस क्रिया में मन और विचार का कहीं सम्बन्ध नहीं आया और इसलिए उस क्रिया का ज्ञान भी हमें नहीं आया। शास्त्रज्ञ इस तरह की क्रियाओं का परावर्तन-क्रिया (Reflex action) नाम देते हैं। कारण कि इन क्रियाओं में एकाध ज्ञानेन्द्रिय पर होने वाले आघात का मानों उस कोष-चक्र पर परावर्तन होकर उसकी क्रिया

में (स्नायुओं को गति देने वगैरा का) रूपान्तर होता है। इन सब क्रियाओं की विशेषता मानों यह है कि उनमें केवल किसी एक यंत्र में की क्रिया की भाँति कोई भी फेर-बदल न होते हुए हमें मालूम न होते हुए भी काम होता रहता है। जिस प्रकार टाइप-राइटर में अ अक्षर दबाने पर अ अक्षर ही उठता है—टाइप करनेवाले मनुष्य की इच्छा वहाँ चाहे व रखने की ही क्यों न हो—उसी प्रकार इस परावर्त्तन-क्रिया में अमुक एक इन्द्रिय पर एक प्रकार का अमुक आघात हुआ कि ठीक वही क्रिया होगी, उसमें कोई फेर-बदल न होगा; उसमें पसन्द-नापसन्द की कोई बात नहीं, क्योंकि वहाँ पसन्द-नापसन्द करनेवाला ही कोई नहीं है। हमारे शरीर में नाड़ी और हृदय की धड़कन अथवा पेट और अन्न पचने की नलिका में स्नायुओं की हरकत, ये सब क्रियायें इसी प्रकार होती रहती हैं और हम उन्हें प्रत्यक्ष रूप में नहीं देखते हैं। अतः केवल इस प्रकार की क्रियाओं पर किसी से यह हर्गिज़ नहीं कहा जा सकता कि हममें या किसी दूसरे प्राणी में मन है। किसी मनुष्य की पीठ की हड्डी टूटकर उससे यदि दिमाग़ और पीठ के नीचे के भाग का सम्बन्ध टूट जाय तो उसके पाँवों को नोचने अथवा गुलगुली चलाने पर भी उसे वह बिलकुल नहीं मालूम होता, तथापि उसके पाँव-मात्र उसे न मालूम पड़ते हुए भी जोरों से हिलकर एक तरफ़ हो जाते

हैं। अर्थात् उसके पाँव के स्नायु, उसके दिमाग़ और उसके सब उसे स्वतः को भी न मालूम पड़ते हुए, पाँव पर जो-जो आघात हों उस-उस आघात के अनुरूप क्रिया करते रहते हैं। सार यह है कि लोगों को यद्यपि ऐसा मालूम होता है कि ये क्रियायें किसी हेतु से ही हुई हैं, परन्तु अच्छी तरह देखें तो वस्तुतः यह बात नहीं है। अतः इस तरह की क्रियायें मन की द्योतक नहीं हो सकतीं। तब जो क्रिया हेतु-पुरःसर अथवा करते समय हम यह क्रिया कर रहे हैं ऐसा जानकर हुई होती है। उसी-पर से हमें करने वाले के मन की उतनी साक्षी मिलती है। और यह क्रिया हेतु-पुरःसर हुई है या नहीं, यह हम इसपर से कह सकते हैं कि वह क्रिया केवल यंत्र की नाईं एक ही तरह की न हो और आस-पास की परिस्थिति के अनुसार थोड़ी-बहुत बदलती रहनी चाहिए। जैसे-जैसे अनुभव आता जाय उसी परिमाण में व्यक्तियों को अनुभव का लाभ उठाकर पहले के अपने व्यवहार-क्रम में तदनुरूप परिवर्तन करना चाहिए और यदि कोई व्यक्ति ऐसा न कर सका तो वह क्रिया केवल परावर्तन-क्रिया होगी अथवा हमें यह कहना पड़ेगा कि उससे मन का कोई सम्बन्ध नहीं है। अस्तु।

पहले-पहल मनुष्येतर प्राणियों के मन की मीमांसा परावर्तन-क्रिया के अनुसार ही की जाती होगी। डेकार्ट्स नामक

शास्त्र का तो यह मत था कि मनुष्येतर प्राणियों में मन ही नहीं है और उनकी सारी क्रियायें उक्त तत्र के अनुसार ही, मात्र किसी यंत्र की, नाईं होती हैं। परन्तु डेकार्ट्स की यह मीमांसा बिलकुल नीचे दर्जे के प्राणियों पर लागू भी हो तो भी ऊँचे दर्जे के प्राणियों पर तो बिलकुल लागू नहीं होती। क्योंकि उनकी कितनी क्रियायें इतनी स्पष्ट और उलझनदार होती हैं कि हमें स्वीकार करना पड़ता है कि उनमें मनुष्य की तरह ही (कुछ घट कर) मन व बुद्धि हैं। परन्तु शुरुआत में बहुतों को यह बात स्वीकार करना ज़रा चमत्कारिक मालूम पड़ा कि मनुष्येतर प्राणियों में मनुष्य की तरह ही मन, बुद्धि और विचार करने की शक्ति है। इसलिए इस प्रकार की विचार शैली सामने आने लगी कि जानवरों में दिखाई देने वाली उनकी सारी होशियारी उनमें उनकी उत्पादक-बुद्धि से ही होती है, इसमें उनकी अपनी बुद्धि का कोई सम्बन्ध नहीं होता। जानवरों में उत्पादक-बुद्धि होती है और वह मनुष्य से भी अधिक होती है, यह बात ठीक है। चींटियों की क़तारें बाँधने की कुशलता, मधुमक्खियों की सुन्दर और नक़्शादार छत्ता बनाने की निपुणता, अंडे रखने का मौसम आने पर पक्षियों की घोंसले बनाने की हलचल—ये सब बातें उन-उन प्राणियों में बिना किसीके सिखाये अपने-आप उठती हैं, इसीलिए ये प्राणी मनुष्यों से ज्यादा बुद्धिमान हैं, यह हम

नहीं कह सकते; परन्तु ग़ौर करने पर यह कहना ठीक नहीं मालूम होगा कि इन प्राणियों के जीवन की सब क्रियायें केवल इनके अन्दर की उत्पादक-बुद्धि के कारण इनमें होती हैं। उत्पादक-बुद्धि अन्धी है, ऐसा जो कहा जाता है, उसका अर्थ यह है कि उत्पादक-बुद्धि में भी पसन्द-नापसन्द का कोई भाग नहीं होता, वह एकही जाति के समस्त व्यक्तियों में एकसमान होती है और व्यक्ति-व्यक्ति में भिन्न नहीं होती। कोई पक्षी जब घास के तिनके या वृक्ष की गिरी हुई सूखी टहनियाँ एकत्र करके बड़ी सुघड़ता के साथ अपना घोंसला बनाता है, तब वह इस काम को इतनी कुशलता के साथ करता है कि हम भी उसे वैसा नहीं कर सकते। मधुमक्खियों के छत्ते का प्रत्येक भाग इतनी खूब-सूरती के साथ बना होता है कि किसी बड़े कारीगर अथवा कुशल एंजीनियर की बुद्धि भी उसे देख कर दंग हो जाती है। परन्तु इनकी ओर ध्यान-पूर्वक देखने पर तत्काल मालूम हो जाता है कि ये दोनों क्रियायें ये प्राणी ऊपर कहे अनुसार अन्धे की ही तरह करते हैं, अथवा यह क्रिया उनके हाथों उनके अन्दर मौजूद उत्पादक-बुद्धि से ही होती है। क्योंकि पक्षियों के घोंसले बनाते समय उनकी अधूरी अवस्था में ही बीच में उनपर कोई संकट आ पड़े तो वे तुरन्त उड़ जाते हैं और घोंसले का फिर से श्रीगणेश करते हैं। यह सच है कि यह बात ये प्राणी उत्पादक-

बुद्धि के सबब ही करते हैं, तथापि अपने जीवन में ऐसी अनेक बातें वे करते हैं जिनकी उपपत्ति केवल उत्पादक-बुद्धि से नहीं लगाई जा सकती। इसी अध्याय में आगे इस तरह के कुछ उदाहरण दिये गये हैं। उदाहरणार्थ, फूँक मारकर अपनी पहुँच के बाहर के पदार्थों को अपनी तरफ़ लाने वाले हाथों अथवा दर्वाज़ा खुलवाने के लिए घण्टी बजाने वाली बिल्ली की बात लें तो यह नहीं कहा जा सकता कि यह सब वे अपनी उत्पादक-बुद्धि से ही करते हैं। उस घण्टा बजाने वाली बिल्ली के मन में इस तरह का कोई संबंध या कार्य-कारण-भाव अवश्य होना चाहिए कि यहाँ घण्टा बजाने पर द्वार खुलता है, यह स्पष्ट है। खास बात यह है कि जन्मान्ध की भाँति इस बात को वह बिल्ली सिर्फ आनुवंशिक उत्पादक बुद्धि के सबब नहीं करती। अतः यह और इसी प्रकार के आगे दिये हुए अन्य उदाहरण उत्पादक-बुद्धि की अपेक्षा किसी अन्य बात का अधिक विश्वास दिलाते हैं; और हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि ये उदाहरण उस-उस प्राणी की बुद्धिमत्ता के निदर्शक हैं।

मन और बुद्धि की इतनी मीमांसा कर लेने पर अब हम मनुष्येतर प्राणियों की बुद्धि का विचार करेंगे। मनुष्य के मानसिक विकास का विचार करते समय सबसे पहले हमें उसकी बुद्धिमानी की शेष प्राणियों की बुद्धिमानी से तुलना करके यह

देखना आवश्यक है कि उन दोनों में कहाँ तक साधर्म्य या समानता है। अतएव यहाँ कुछ प्राणियों की बुद्धिमत्ता के कुछ स्पष्ट उदाहरण दिये जाते हैं। ❀

(१) चींटी और मधुमक्खी

सबसे पहले हम चींटी का उदाहरण लेते हैं। मनुष्य की तुलना में चींटी कितनी अधिक छोटी और नीचे दर्जे की है। परन्तु इस जरा-से प्राणी की बुद्धि उसके परिमाण में हम समझते हैं उससे कितनी बड़ी है, यह निम्न बात से सहज ध्यान में आयगा।

चींटियों की स्मरणशक्ति बड़ी तेज होती है। हमारी तरह उनमें भी राग द्वेष की मनोवृत्ति होती है। चींटियों के परस्पर जो युद्ध होते हैं, वे भी बड़े मजेदार होते हैं। यह बात बहुतों ने देखी होगी कि चींटियाँ लड़ाकू सिपाहियों की किसी सेना की भाँति एक क़तार में एक जगह से दूसरी जगह चली जाती हैं, कुछ चींटियाँ मुख्य सेना से आगे ही चल देती हैं और वे शत्रु के स्थान का द्वार ध्यान-पूर्वक टटोल कर खोज निकालती हैं। इस प्रकार यह सेना रक्षित द्वार के रास्ते अन्दर की चींटियों पर टूट पड़ती है और युद्ध शुरू हो जाता है। शत्रु-सेना का पराभव

❀ इस अध्याय की बहुत सी बातें रोमेनाज़ (Romanes) की 'पशुओं की बुद्धिमानी' (Animal Intelligence) पुस्तक से ली गई हैं।

होते ही अन्दर से उस स्थान को लूट कर बड़े ढंग से यह सेना वापस अपने स्थान पर आ जाती है। इस लूट में अधिकतर उस छिद्र की चींटियों के अण्डे होते हैं और कई बार तो उन अण्डों को जबर्दस्ती लूट लेने ही के लिए युद्ध होता है। इन अण्डों को अपने छिद्र में ले जाने पर ये चींटियाँ उनकी अच्छी सार-सम्हाल करती हैं और उन अण्डों से उत्पन्न होने वाली चींटियों के सामने सब काम गुलामों की तरह चुपचाप किया करती हैं। मनुष्य-प्राणी ने आजकल के युग में यद्यपि दासता की प्रथा का अंत कर दिया तो भी चींटियों में यह दासता बहुत अधिक प्रचलित है।

मीठी चीजें चींटियों को बहुत पसन्द हैं। उनकी प्राप्ति के लिए वे कितना अधिक प्रयत्न करती हैं, क्या-क्या युक्तियाँ लड़ाती हैं, इसका अनुभव थोड़ा-बहुत प्रत्येक को होगा। घर में एक बार चींटियाँ हुई नहीं कि सब कुछ करने पर भी उनका त्रास कम नहीं होता; उस चीज को हम पानी में डालें तो वहाँ भी कोई-न-कोई उपाय करके वे पहुँच ही जायँगी। एक उदाहरण लीजिए।

एक आदमी के यहाँ चींटियों का बड़ा त्रास था। अतः उसने खाने की सब चीजों को जमीन पर न रखकर मेज पर रखना शुरू किया। फिर भी चींटियों का आना न मिटा। तब

वह मेज़ के चारों पायों को पानी में डूबे हुए रखने लगा। इससे चींटियाँ कुछ तो कम हुईं, परन्तु फिर कुछ दिन बाद पानी को बचाकर घास के तिनकों के सहारे उन्होंने मेज़ पर पहुँचना शुरू कर दिया। अर्थात् उनके इस प्रयत्न में कुछ चींटियाँ पानी में गिर कर मरती ज़रूर हैं, पर शेष सब मेज़ पर पहुँच जाती हैं। फिर उस आदमी ने मेज़ के पायों पर तारपीन का तेल लगाने की तर्कीब सोची और उसे ऐसा मालूम होने लगा कि बस यह उपाय ही अन्तिम है—इसके बाद और किसी उपाय का हर्गिज़ ज़रूरत न होगी। परन्तु कुछ दिनों बाद देखा तो मेज़ फिर चींटियों से भरी हुई दिखाई पड़ी और उसे इस बात का बड़ा आश्चर्य हुआ; क्योंकि मेज़ के पायों पर तो चींटियों का नाम-निशान न था। अन्त में बड़ी बारीकी के साथ देखते-देखते उसे मालूम पड़ा कि उन चींटियों ने वहाँ पहुँचने की एक नई और अजीब युक्ति खोज निकाली थी। वह युक्ति यह कि वह मेज पास की दीवार से एक बालिश्त के फ़ासले पर रक्खी थी। इस दीवार से होकर वे चींटियाँ दीवार पर की एक खूँटी पर जाती थीं और वह खूँटी उस मेज़ के ठीक एक हाथ ऊपर थी। चींटियाँ खूँटी पर आते ही पटापट मेज़ पर गिरती जातीं और इस प्रकार मेज़ पर की मीठी चीजों को पा लेती थीं।

चींटियों को जब किसी छोटे से पानी के प्रवाह या धारा

के उस पार जाना होता है तो उस समय उनकी युक्तियाँ बड़ी बढ़िया होती हैं। ऐसे समय उस धारा के किनारे घूम-फिर कर इस पार से उस पार तक गया हुआ कोई वृक्ष वे ढूँढ लेती हैं और उसपर होकर उस पार पहुँच जाती हैं। अगर आस-पास कोई ऐसा वृक्ष न मिले तो प्रत्येक चींटी अपने पंजे में लकड़ी का एक बारीक टुकड़ा दबा कर पानी में कूद पड़ती है। उसके पीछे ही दूसरी चींटी अपने मुँह में वह टुकड़ा पकड़े रहती है। इस प्रकार वे इस किनारे से उस किनारे तक अपनी एक कतार बना लेती हैं और उस कतार पर से बाकी चींटियाँ आसानी से उस पार चली जाती हैं।

वेल्ट नाम के मनुष्य ने रास्ते के एक ओर चींटियों का एक झुण्ड जमा हुआ देखा। इस झुण्ड से चींटियाँ रास्ते की दूसरी तरफ़ के एक वृक्ष पर अपना भोजन प्राप्त करने के लिए बराबर जाती-आती थीं। इस रास्ते ट्राम-गाड़ी की पटरियाँ थीं और उनपर बराबर ट्राम-गाड़ियाँ चला करती थीं। निस्सन्देह शुरू-शुरू में गाड़ी के नीचे दब कर बहुत-सी चींटियाँ मरती रहीं। परन्तु फिर अनुभव से वे चींटियाँ होशियार हो गईं और उन्होंने गाड़ी की पटरियों के नीचे एक छेद करके उस रास्ते अपना आवागमन शुरू कर दिया। वेल्ट ने उनके उस छेद को भी बिलकुल बन्द कर दिया और खड़े होकर वह देखने लगा कि देखें अब चींटियाँ

कैसे जाती हैं। परन्तु वे पहले के अपने अनुभव से इतनी चतुर हो गई थीं कि पटरियों पर को न जाकर उन्होंने उसी समय दूसरा छेद खोदना शुरू कर दिया।

मधुमक्खी और ततैया की बुद्धिमत्ता भी चींटियों ही के समान होती है और चींटियों की नाईं उनकी बुद्धिमानी के भी अनेक उदाहरण दिये जाते हैं। परन्तु स्थानाभाव से यहां सिर्फ एक ही उदाहरण दिया जायगा।

एक ततैये ने एक बड़ी मक्खी को मार डाला और वह उसे मुँह में दबाकर उड़ने का प्रयत्न कर रहा था। मक्खी को मुह में दबाकर वह ऊपर गया। परन्तु हवा बहुत ज्यादा होने के कारण ज़ोर से उस मक्खी के पंख किसी जहाज़ के पतवार की नाईं उसे दूसरी ही किसी ओर ले जाने लगे। तब वह ततैया नीचे ज़मीन पर आया और उस मक्खी को फिर से ऊपर ले जाने के पहले उसने उस मक्खी के पंखों को अपने जबड़े से तोड़ डाला और इस प्रकार अपये भक्ष्य को वायु की गड़बड़ से बचाकर अपने घोंसले की ओर ले गया।

(२) पत्ती

पक्षियों में अपनी सन्तान के प्रति जो ममता होती है, वह प्रसिद्ध ही है। दूसरे प्राणियों की अपेक्षा पक्षियों में साधारणतः प्रेम, दया इत्यादि कोमल मनोवृत्तियाँ विशेष होती हैं। पक्षियों

में नर और मादा के बीच जो प्रेम होता है उसे भी कवियों ने अपने काव्यों में शुद्ध एवं सात्विक प्रेम के उदाहरण के रूप में अनेक स्थानों पर वर्णन किया है। यह प्रेम इतना उत्कट होता है कि मादा या नर के मर जाने पर उनमें जो जिन्दा बचता है वह नर या मादा दूसरे के विरह में घुलते-घुलते मर जाता है। डा० फ्रैंक्लिन नामक एक अंग्रेज ने इस तरह का एक उदाहरण दिया है, जो निम्न प्रकार है।

दो तोते—नर व मादा—एक ही जगह एक ही पिंजरे में चार वर्ष तक रहे। फिर उनमें से मादा बीमार पड़ी। तब नर उसकी एकसमान शुश्रूषा करने लगा। जब उसे अपने आप अन्न खाने की शक्ति न रही तब वह अपनी चोंच में अन्न भरकर उसे खिलाने लगा। जब वह पिंजरे में खड़ी न रह सकने लगी तब उसे खड़े रहने में अपने बस-भर मदद करने लगा। अन्त में मादा मर गई। तब तो नर ने भी अन्न त्याग दिया और फिर विरह-दुःख से थोड़े ही दिनों के बाद वह मर गया!

नीचे कुछ उदाहरण दिये जाते हैं, उनसे पक्षियों की बुद्धिमत्ता की कुछ कल्पना होगी।

१ एक गाँव में हर पन्द्रहवें दिन अनाज का बाज़ार (हाट) लगता था। उस गाँव के पास एक छोटा-सा गाँव था, वहाँ के लोगों ने कुछ बतक़ें पाल रक्खी थीं। ये बतक़ें नियमित रूप से

हर पन्द्रवें दिन, बाज़ार के समय, उस गाँव में आजातीं और बोरियाँ खोलते समय बिखरा हुआ अनाज खाती थीं। परन्तु यह किसे मालूम कि उन्हें यह अचूक ज्ञान कैसे होता था कि हमें ठीक पन्द्रहवें दिन अमुक एक ठिकाने धान्य खाने के लिए जाना है! अगर यह कहें कि शायद बाज़ार के दिन बाज़ार के लिए जाने वाले लोगों की चहल-पहल से उन्हें यह ज्ञान हो जाता होगा, सो वह ठीक नहीं। क्योंकि एक बार ऐसा हुआ कि किसी कारणवश वह बाज़ार एक पक्ष नहीं लगा, अर्थात् उस दिन सदा की भांति लोगों की भीड़भाड़ या चहल-पहल न थी। मगर वे बतकें ठीक समय पर उस गाँव में बाज़ार की जगह मौजूद थीं।

कुछ पक्षी बड़े धूर्त होते हैं। हमारे सदा के जाने-बूझों में कव्वे का ही उदाहरण लीजिए। दो-तीन कव्वे एक जगह एकत्र होकर कुत्ते या बिल्लियों को फँसा कर उनके मुँह का ग्रास कैसे निकाल ले जाते हैं, यह हम हमेशा देखते ही हैं।

(३) घोड़ा

घोड़े की बुद्धिमत्ता और अपने मालिक के प्रति उसकी वफ़ादारी प्रसिद्ध है। लड़ाई में मालिक के मर जाने पर उसके शव की रक्षा करते हुए घोड़ा खड़ा रहा, यह बात बहुतों को मालूम होगी। घोड़ा बड़ा भीरु होता है; भय के सामने उसकी सब मनोवृत्ति मन्द पड़ जाती है और उसकी अक़्ल गुम हो जाती

है। नीचे के उदाहरण से इसकी चतुराई की कुछ कल्पना होगी।

सिंकलेअर नाम के एक मास्टर ने अपने घर से रोज़ स्कूल जाने-आने के लिए एक घोड़ा मोल लिया। कुछ दिनों बाद उसने प्रैटर नाम के नालबन्द से उस घोड़े के नाल लगवाये। दो-तीन दिन बाद नालबन्द ने देखा कि वह घोड़ा उसके बरामदे में आकर खड़ा हुआ है। नालबन्द का घर मास्टर के घर से बहुत दूर था। अतः नालबन्द ने समझा कि यह घोड़ा अपने मालिक की नज़र बचाकर भाग आया है और इसलिए उसने पत्थर मार कर उसे अपने यहाँ से भगा दिया। परन्तु कुछ देर बाद क्या देखता है कि वह घोड़ा फिर उसके बरामदे में आकर खड़ा है। उसने पुनः उसे हंकाल देने का प्रयत्न किया, परन्तु वह घोड़ा वहाँ से न टला। तब नालबन्द को शक हुआ। उसने घोड़े के पाँव को ऊपर उठाकर देखा तो उसकी नाल निकली हुई थी। तब उसने तुरन्त नाल लगादी और चुपचाप यह देखने लगा कि देखें अब वह घोड़ा क्या करता है। नाल लग जाने पर जिस पाँव में नाल लगी थी थोड़ी देर तक उस पाँव को घोड़े ने ज़मीन पर घिसा और यह विश्वास हो जाने पर कि नाल ठीक लगी है, कृतज्ञता के साथ नालबन्द को देखकर, वह एक बार हिन-हिनाया और फिर तेज़ी से अपने घर को लौट गया। घोड़े के मालिक को भी इस बात का बड़ा आश्चर्य हुआ कि घोड़े को जो

नाल निकल गई थी वह कैसे लगी और दो-तीन दिन बाद जब योंही एक दिन वह उस नालबन्द के यहाँ गया तब यह बात उसे मालूम पड़ी।

आजकल जर्मनी में घोड़े जो विलक्षण बुद्धिमानी के काम करते हैं, उसे पढ़कर भी हम दंग हो जाते हैं। हमारे यहाँ एक-साथ कई काम करने की जो बात कही जाती है वैसी ही कुछ बात इन घोड़ों की है। ये घोड़े अपने मालिक द्वारा गणित की शिक्षा पाने पर अपने खुरों के थपके से अमुक अंक वा संख्या अपने मालिक को बता देते हैं। उदाहरणार्थ खुर की चार थपकी उन्होंने लगाई तो चार अंक समझो और आठ थपकी मारें तो आठ का अंक जाहिर होता है। इस प्रकार ये घोड़े बड़ी-बड़ी रक़मों का वर्ग-मूल व घनमूल तक बहुत कम समय में—सिर्फ १०-१२ सैकिण्डों में—निकाल लेते हैं, ऐसा कहा जाता है। यह बात सच हो तो कहना चाहिए कि मानस-शास्त्र का यह एक अद्भुत चमत्कार ही है।

(४) हाथी

हाथी घोड़े से भी बुद्धिमान है। इसकी बुद्धिमत्ता के बहुत-से वर्णनों में अतिशयोक्ति होती है, तथापि उनमें से कुछ सही भी होते हैं। यह प्राणी बड़ा उदार और दिलदार स्वभाव का होता है और यद्यपि बदले के लिए तैयार रहता है मगर बिना कारण द्वेष कभी नहीं करता। दर्जी और हाथी की कहानी बहुतों को

मालूम होगी। इसमें अतिशयोक्ति बिलकुल नहीं है। कारण कि कप्तान शिप नामक व्यक्ति ने हाथी पर इसी प्रकार का प्रयोग करके देखा और उसे ऐसा ही अनुभव हुआ। उसने एक हाथी को खाने के लिए रोटी और नमक दिया और अन्त में कुछ तेज मिर्चें डालीं, जिससे हाथी के मुँह में 'आग-सी लग गई। तत्पश्चात् डेढ़ महीने के बाद यह साहब उस हाथी के पास गये। बहुत देर तक हाथी ने उनके साथ कोई छेड़छाड़ न की, और इसपर से उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि हमारी खुटपचराई को हाथी भूल गया होगा। परन्तु अन्त में मौक़ा पाकर हाथी ने अपनी सूण्ड को गन्दे पानी से भरा और उनपर उण्डेल कर उन्हें अच्छा स्नान करा दिया!

हाथी बदला लेने के काम में कितना तत्पर होता है, इसका ताजा उदाहरण श्रीमन्त भाऊ सा० जमखिंडीकर का हाथी द्वारा होने वाला शोचनीय वध है। भाऊसाहब हाथी पर अम्बारी डालने के लिए उसे बैठना सिखा रहे थे। हाथी थोड़ा जंगली होने के कारण वह उसे खूब मारते जाते थे। अन्त में मौक़ा पाकर हाथी ने श्रीमन्त को अपनी सूण्ड में पकड़ कर उनकी भयंकर दुर्दशा की और वहीं उनका प्राणान्त हो गया। इसमें विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि हाथी ने श्रीमन्त के सिवा और किसी को दुःख नहीं दिया। इसपर से यह स्पष्ट है कि वह

पागल नहीं था और सिर्फ़ बदला लेने ही के लिए उसने यह घोर कृत्य किया। श्रीमन्त जैसे ही होश में आये, आसपास के आदमियों को उन्होंने कह दिया कि हाथी को मारा न जाय। इससे उनकी अगाध दयार्द्र बुद्धि तो दीखती है, परन्तु उन्हें भी यह ज्ञान था कि हाथी ने यह कृत्य केवल द्वेष-भाव से किया और वह पूरे होश में था।

हाथी को अपनी सूँड की पहुँच के बाहर की कोई चीज पास लानी होती है तो अपनी सूँड से चीज के इस तरफ़ जोर से फूँक मारता है और फिर उस हवा के योग से वह चीज उसकी पहुँच में आ जाती है।

नीचे का वर्णन हाथी की बुद्धिमत्ता का अच्छी साक्षी देता है।

एक गृहस्थ लिखते हैं—"मेरे आसाम में आने के बाद मेरे बंगले के सामने चार-पाँच हाथी हमेशा की तरह चरते रहते थे। उनमें से एक छोटा-सा हाथी पास के बाँस के कैम्प में गया और अपनी सूँड से वहाँ के बाँस उखाड़ने लगा। बाँस को अपने पाँवों के नीचे दबाकर उसने उनमें से एक खपची निकाली, परन्तु वह अच्छी न लगने के सबब दूसरा एक बाँस लेकर उसमें से अच्छी खपची निकाली। इस खपची को उसने अपनी सूँड में रक्खा और आगे का पाँव खूब मोड़ कर उसने उसे अपनी बाँहों में डाला और उसके द्वारा खूब जोर-जोर से अपना शरीर

खुजाने लगा। मुझे उसके इस ढंग का कोई भी मतलब समझ में न आया; परन्तु फिर देखता हूँ तो उस हाथी की बाँहों से एक अच्छी-खासी जूँ नीचे पड़ी!"

(५) बिल्ली

बिल्लियों को हम हमेशा देखते हैं। अतः उनकी बुद्धिमानी के बारे में अधिक लिखने की जरूरत नहीं। पाली हुई बिल्लियों को जब घर के अन्दर जाना हो और घर का दर्वाजा बन्द हो, तब अपने पंजे से द्वार के घण्टे को बजाती हैं। क्योंकि यह बात अनेक बार देखी गई है कि उनके घण्टी बजाने पर द्वार खुल जाता है। इसी प्रकार सादी सांकल और चटखनियों को अपने पंजे से खोलते हुए भी अनेक बिल्लियाँ देखी जाती हैं।

तेल के दीये की बत्ती काटते समय दीये का तेल पास खड़ी हुई बिल्ली के शरीर पर पड़ गया और वह जल गई। तब बिल्ली तुरतों-तुरत दर्वाजे की तरफ़ लपकी और बाहर के रास्ते पर लगभग दोसौ हाथ दूर पानी से भरे हौज में कुलाँट खाई और इस प्रकार उसने अपनी रक्षा की।

नीचे की बात एक विश्वसनीय सद्गृहस्थ से सुनी है, इसलिए उसे ज्यों-की-त्यों यहाँ दिया जाता है।

सुप्रसिद्ध माधवराव बर्वे (दीवान कोल्हापुर) के पास एक बिल्ली थी। वह बड़ी पालतू थी और माधवराव तथा उनकी

पत्नी पार्वतीबाई इन दोनों से उसे बड़ा प्रेम था। वह दूध आदि कोई भी चीज़ उनके दिये बिना कभी न खाती और दूध के चूल्हे पर गरम होते समय दूसरी बिल्लियों से उसकी रखवाली किया करती थी। माधवराव भोजन करने बैठें कि उनके पास उसका भी पट्टा लगता और वहाँ वह चुपचाप बैठकर माधवराव उसकी थाली में जितना भात रखते उतना ही खाती थी। गर्भवती होने पर प्रसूति के समय उसके पेट में दर्द उठा तो वह पार्वती काकी के पाँवों को रगड़ने लगी। फिर पार्वती काकी ने कहा, "मुझे मत खुरेच; उस कोने में जा बैठ, जहाँ तेरी जगह है।" बस, वह बिल्ली तुरन्त वहाँ जाकर लेट गई। माधवराव जब बीमार पड़े तब उसने अन्न छोड़ दिया; क्योंकि उसे हमेशा उनकी थाली का भोजन करने की आदत थी। माधवराव ने जब यह सुना तो उसे अपने पास बुलाया और अपने हाथ से दलिया दिया, तब उसने खाया। परन्तु दो-चार दिन बाद माधवराव मर गये। तब तो बिल्ली ने भी अन्न छोड़ दिया और उनके साथ-साथ उनके पीछे वह भी मर गई!

(६) कुत्ता

कुत्तों की बुद्धिमानी बिल्लियों से भी अधिक होती है। कुत्ते अपने मालिक के कितने उपयोगी होते हैं, यह हमें मालूम ही है। न्यूफाउण्डलैण्ड में कुत्ते पानी में डूबे हुए मनुष्यों को बचाते हैं। सेण्टबर्नार्ड में कुत्ते बर्फ़ में भटके हुए यात्रियों को रास्ता बताते

हैं। कुत्ते जैसा विश्वस्त और ईमानदार प्राणी और कोई नहीं। कुत्ते अपने मालिक को ही नहीं, बल्कि उसके चित्र (Photograph) को भी पहचान सकते हैं। कुत्तों की होशियारी की दो-एक बातें नीचे दी जाती हैं।

एक कुत्ते को एक आना या दो पैसे देने पर वह उन्हें मुँह में दबाकर एक भटयारे की दुकान पर जाता और दर्वाजे का घण्टा बजाकर, पैसे देकर उसके पास से रोटी ले आता था। उसे दो पैसे दिये जाते तो छोटी-सी रोटी या रोटी का टुकड़ा लेकर वह चला आता; परन्तु उसके पास एक आना होता तो बड़ी रोटी लिये बिना वह चैन न लेता। एक बार उस रोटी वाले ने उस कुत्ते को खूब फँसाया; उसके पास से पैसे लेकर, बिना रोटी दिये ही, उसे उसने निकाल दिया। तबसे कुत्ता सावधान हो गया और अपना यह क्रम बना लिया कि दूकान पर जाने के बाद पहले पैसे अपने पंजे के नीचे रख लेता और रोटी पाँवों के पास पड़ जाने पर पैसों पर से अपना पञ्जा हटाता।

निम्न घटना पूना जिले के वाड़े स्थान की है।

वाड़े में पोटघरे उपनाम का कुटुम्ब रहता था। उसमें एक काला कुत्ता था। वह बड़ा विश्वस्त था। एक रात उसके घर पर डाकुओं ने भयंकर डाका डाला। डाके में डाकुओं ने सारे वयस्क स्त्री-पुरुषों को जान से मार डाला और चीज़-वस्त लूट लीं। उस समय घर

में एक रोगी स्त्री थी और उसका एक बिलकुल छोटा बालक था। सबके मारे जाने का हाल मालूम होते ही उसने अपने कुत्ते को पुकारा। एक गठरी में उस शिशु को बाँध कर उसने कुत्ते के सुपुर्द किया और कहा—"हम सब जने तो अब मरने वाले हैं; इस बालक को तू सम्हाल, और भाग जा।" तुरन्त कुत्ते ने वह गठड़ी उठाई और पीछे के एक रास्ते से घर के बाहर निकल कर तुर्तों तुरत पोटघर की एक रिश्तेदार स्त्री के पास ले गया। उस कुत्ते को इतनी रात में देखते ही वहाँ वालों को आश्चर्य हुआ और गठड़ी खोलकर जब सबने देखा तो वे दंग रह गये। परन्तु दूसरे दिन सवेरे जब उस डाके की बात गाँव में फैली और पोटघर के सब मनुष्यों के मारे जाने की खबर उन्होंने सुनी तो उस कुत्ते की होशियारी के बारे में उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। वह बच्चा बड़ा हुआ तब फिर पोटघर का मकान आबाद हुआ। आजकल पोटघर के मकान में उस काले कुत्ते के स्मरणार्थ, अथवा और किसी कारण से, हर साल के कुल-धर्म में काले कुत्ते की पूजा करने की प्रथा है।

(७) बन्दर

मनुष्यनुमा बन्दरों की बुद्धिमत्ता के उदाहरण पिछले एक अध्याय में दिये ही गये हैं, ऊपर से यह ध्यान में आवेहीगा कि शेष सब जानवरों से उनकी बुद्धिमत्ता अधिक होती है। इस

बन्दरों को पालने पर ये इतने हूबहू मनुष्यों की तरह अपना व्यवहार करते हैं कि घर के छोटे व शरारती बच्चों की भांति उन-का व्यवहार होता है। जर्मनी में कार्ल हेगेनबाख नाम का मनुष्य-जानवरों का बड़ा शौक़ीन है। उसने अपने प्राणिसंग्रहालय में दो ओरंग और तीन चिम्पञ्जी इस प्रकार तीन बन्दर रख रक्खे हैं और उनके साथ वह बिलकुल छोटे बच्चों का सा व्यवहार करता है। वे बन्दर भोजन करते समय बिलकुल मनुष्य की तरह चुपचाप मेज़ के सामने कुर्सी पर बैठ कर चम्मच और काँटों से खाना खाते हैं। भोजन के समय बारी-बारी से उनमें से एक परोसने का काम करता है। भोजन कर चुकने पर सफ़ाई करने का काम उन्हींके ज़िम्मे है और वे बड़ी सफ़ाई से, बिना किसी ग़लती के, उसे करते हैं।

इन बन्दरों की बुद्धिमत्ता के कुछ उदाहरण उसने दिये हैं। उनमें चाबियों के गुच्छे में से भिन्न-भिन्न चाबियाँ निकाल कर उनसे ताले खोलने की बात है और ऐसे ही और भी बहुत से उदाहरण हैं। बन्दरों में स्वभावतः जागरूक-बुद्धि बहुत होती है। इससे कोई भी चीज़ हाथ में आते ही वे उसे सब तरफ़ से बड़ी बारीकी के साथ देखते-भालते हैं। इनमें से एक बन्दर तो थोड़े ही दिनों में साइकिल पर बैठना सीख गया और अब उसे इसमें इतना मज़ा आता है कि घण्टों वह बाग़ के अन्दर साइकिल पर

इधर से उधर घूमता रहता है और एक बार साइकिल पर बैठा नहीं कि ऐसी तेज़ी से उसे चलाता है कि उसे पकड़ना बड़ा कठिन होता है ।
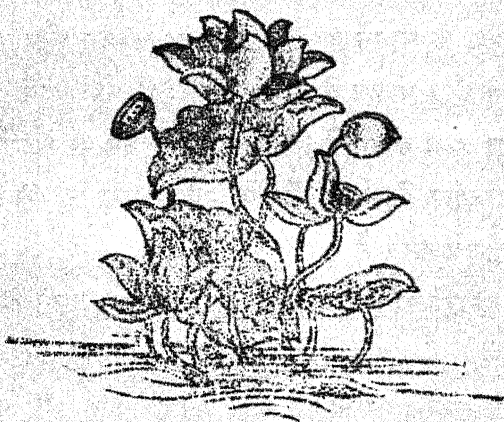
मनुष्य और जानवर

पिछले अध्याय में जानवरों की बुद्धिमत्ता के उदाहरण दिये गये हैं। उनसे साधारणतः पाठकों के ध्यान में यह बात आगई होगी कि जानवरों में भी बुद्धि होती है। जानवरों में हमारी ही तरह मन और बुद्धि है, इतना ही नहीं, बल्कि हममें जो भिन्न-भिन्न मनोविकार होते हैं उनमें से अधिकांश जानवरों में भी होते हैं और हमारी ही तरह उनमें भी वे मनोविकार चर्या, हाव-भाव अथवा अंग-विक्षेप के द्वारा दिखाई पड़ते हैं। जानवरों में हमारी तरह आश्चर्य, भय, ममता, जिज्ञासा, मत्सर, राग, दया, ईर्ष्या, गर्व, शोक, परोपकार-बुद्धि, प्रतिशोध,

लज्जा—मतलब यह कि धर्म-जिज्ञासा और नैतिकता को छोड़ कर और सब मनोविकार हैं, यह उनके व्यवहार से स्पष्ट दिखाई पड़ता है। उत्पादक-बुद्धि की भी बात लें, तो यह हम पहले देख ही चुके हैं कि यह तो जानवरों में हमसे भी ज्यादा होती है। परन्तु इतना सब कुछ होने पर भी इस बात को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि फिर भी मनुष्य और जानवर की बुद्धिमत्ता में बड़ा भारी भेद रहता ही है। किसी अशिक्षित मनुष्य से यदि यह कहा जाय कि मनुष्य और जानवर की बुद्धिमत्ता में कोई भेद नहीं, तो वह इसे न मानेगा। वह हमपर हँसेगा और कहेगा, 'मनुष्य मनुष्य ही है और जानवर जानवर ही।' अंग्रेजी भाषा में एक उक्ति है—'मानवजाति का पर्याप्त अध्ययन करना हो तो मनुष्य का अध्ययन करना चाहिए' (The proper study of mankind is man), इसका भी यही मर्म है। कारण कि जानवर और मनुष्य की बुद्धिमत्ता का अन्तर पद-पद पर हमारे सामने आता है। मनुष्य और जानवर की बुद्धिमत्ता के बारे में पहला और सबसे बड़ा अतएव तत्काल हमारी नजर पड़ने वाला अन्तर उनकी भाषा का है। जानवरों के संबंध में बोलते हुए हम सदा 'मूक पशु' शब्द का प्रयोग करते हैं। जानवरों में हमारी तरह वाणी नहीं है, हमारी तरह उनमें भाषा नहीं है। भाषा के द्वारा एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को अपने विचार कह सकता है, परन्तु

भाषा के अभाव में जानवर ऐसा नहीं कर सकते। भाषा के द्वारा मनुष्य की बुद्धि का कितना विकास हुआ है ? भाषा के द्वारा मनुष्य के विचार कितने प्रगल्भ हो गये हैं ? भाषा के कारण ही मनुष्य को वाङ्मय निर्माण करना आया। भाषा के कारण ही मनुष्य ने भिन्न-भिन्न शास्त्र और भिन्न-भिन्न विद्याओं का निर्माण किया—और, विद्या के सामर्थ्य से इस जगत् में मनुष्य ने क्या-क्या नहीं किया ? यह विद्या प्राप्त होने का साधन ही जब भाषा है, तब अवश्य ही कोई भी मनुष्य हमसे कहेगा कि मनुष्य और पशु में जबतक इतना बड़ा फर्क है तबतक एक के मन का विकास दूसरे के मन से कैसे हो सकता है ? जिन जानवरों को बिलकुल बोलना ही नहीं आता, उनसे बोलने वाले मनुष्य का निर्माण कैसे हो सकता है ? अतः प्रस्तुत अध्याय में इस भाषा के प्रश्न के सम्बन्ध में जरा विस्तार के साथ ऊहापोह की जायगी।

भाषा के सम्बन्ध में पहली बात जो ध्यान में रखनी चाहिए वह यह है कि भाषा की यह व्याख्या ठीक नहीं है कि "हम जो बोलते या लिखते हैं वही भाषा है।" सामान्य व्यवहार में यह व्याख्या लागू हो सकती है, परन्तु हमें भाषा की ओर जरा व्यापक और शास्त्रीय रीति से देखना चाहिए। ऐसी भी भाषा हो सकती है कि जिसमें बोलना और लिखना न आता हो। युद्ध में कितनी नाना प्रकार की सांकेतिक भाषाओं का उपयोग

किया जाता है ! कई बार एक जगह की बात दूसरी जगह पहुँचाने के लिए दो शीशों का उपयोग किया जाता है । परावर्त्तन के द्वारा प्रकाश की किरण को एक स्थान के शीशे पर से दूसरे स्थान के शीशे पर पहुँचाते हैं और इससे मूल-स्थान के शीशे की जैसी हलचल होती है उसीके अनुसार दूसरे स्थान के प्रकाश की किरण भी बदलती है और इस प्रकार केवल एक स्थान की बात दूर के दूसरे स्थान पर केवल सांकेतिक रीति से पहुँचाई जा सकती है । तार की कट-कट भाषा सबकी परिचित है । दक्षिण भारत में कुछ लोग कभी-कभी करपल्लवी भाषा का उपयोग करते हैं । इस भाषा में सम्भाषण करना हो तो केवल हाथों की अंगुलियों का उपयोग किया जाता है । मतलब यह कि लिखना व बोलना न आने वाली भी भाषा हो सकती है । भाषा का हेतु एवं प्रयोजन विचार-विनिमय है । इस व्यापक दृष्टि से भाषा का विचार करने पर हमें भाषा की व्याख्या इस प्रकार करनी चाहिए कि "जिस-जिस संयोग से हम अपने विचार अथवा मनोविकार प्रकट कर सकें वह कोई भी सांकेतिक पद्धति भाषा है ।" इस रीति से भाषा की व्याख्या करने पर सहज ही हमें यह मालूम पड़ेगा कि बोलना-लिखना आने वाली भाषा के अतिरिक्त नीचे दी हुई दूसरी अनेक रीतियों से भी हम अपने विचार किंवा मनोविकार प्रकट करते हैं—

(१) बुद्धिहीन अथवा विचार-रहित, अस्पष्ट और अस्फुट ध्वनि के द्वारा। उदाहरणार्थ, पीड़ा होने पर हम कराहते हैं। इसमें हमें होने वाला दुःख, हमें न मालूम होते हुए, अस्पष्ट प्रकार की एक ध्वनि के द्वारा प्रकट होता है और दूसरों को मालूम पड़ता है।

(२) विचारयुक्त किंवा बुद्धि-द्वारा विशेष रूप से बनाई हुई परन्तु पहले ही की तरह अस्पष्ट और अस्फुट ध्वनि के द्वारा। उदाहरणार्थ, हुङ्कारे के लिए 'हूँ' और नकारे के लिए 'ऊँहूँ' का हम उपयोग करते हैं।

(३) विचार किये बगैर होने वाले हाव-भाव किंवा अंग-विक्षेप के द्वारा। उदाहरणार्थ हर्ष के समय हमारे मुखपर हास्य और क्रोध के समय माथे पर पड़ने वाले सल।

(४) जान-बूझ कर किये हुए हाव भाव किंवा अंग-विक्षेप के द्वारा। उदाहरणार्थ, किसी को अपने नज़दीक बुलाने के लिए हाथ से इशारा करना।

यहाँ यह बात विशेष महत्व की और ध्यान देने योग्य है कि ऊपर जिन भिन्न-भिन्न भाषा-पद्धतियों के कुछ नमूने दिये गये हैं हमारी तरह पशु भी उन सबको व्यवहार में लाते हैं। पशुओं में ऐसी भाषायें हमेशा व्यवहृत होती हैं, जैसा कि नीचे के कुछ उदाहरणों से प्रकट होगा।

यह पिछले अध्याय में कहा जा चुका है कि ततैया, मधु-मक्खी और चींटियाँ अपने विचार दूसरे ततैयों, मधुमक्खियों और चींटियों पर प्रकट कर सकते हैं। मधुमक्खी को जब किसी जगह बहुत-सा मधु (शहद) दिखाई देता है तो वह अपने छत्ते को लौटकर अपने साथ सैकड़ों अन्य मधुमक्खियों को ले आती है। वे ऐसा ऊपर दी हुई अथवा वैसी ही किसी सांकेतिक पद्धति के द्वारा ही कर सकती होंगी, इसमें संशय नहीं। चींटी-चींटों की क़तार-की-क़तार जब चल रही होती है तब बीच से ही कहीं वह क़तार मुड़े तो यह बात तुरन्त दूसरी चींटियों तक पहुँच जाती है और वे सबकी सब लौट पड़ती हैं, यह बहुतों ने देखा होगा। सर जॉन लैबॉक ने इस संबंध में एक साधारण प्रयोग किया था। चींटियों के एक झुण्ड से उन्होंने तीन लम्बे-लम्बे फ़ीते इधर-उधर लगाये। इन फ़ीतों के दूर के सिरे उन्होंने तीन भिन्न-भिन्न काँच के बर्तनों में डाल दिये। एक बर्तन में उन्होंने चींटियों के ४००-५०० अण्डे रक्खे; दूसरे बर्तन में सिर्फ़ २-३ ही अण्डे रक्खे; और तीसरे बर्तन को बिलकुल खाली रक्खा। तदुपरांत उन्होंने प्रत्येक बर्तन में एक-एक चींटी छोड़ दी। चींटी अण्डा लेती, झुण्ड में जाती, और फिर दूसरा अण्डा लेने के लिए वापस बर्तन में आती। सर जॉन दो-तीन अण्डों वाले बर्तन में हर बार एक-एक नया अण्डा डालते जाते थे, जिससे उसमें के

अण्डे समाप्त न हो जायें। प्रयोग के अन्त में उन्हें मालूम पड़ा कि जिस बर्तन में बहुत-से अण्डे थे उसमें ४७॥ घण्टों के दर्मियान २५७ चींटियाँ पहली चींटी की मदद को आईं; जिस बर्तन में सिर्फ २-३ अण्डे थे उसमें ५३ घण्टे के दर्मियान सिर्फ ८२ दूसरी चींटियाँ आईं; और जो बर्तन ख़ाली था उसमें एक भी चींटी नहीं आई। इसपर से यह मालूम पड़ता है कि चींटियों में यह ख़बर एक दूसरे को बताने का कोई साधन अवश्य होना चाहिए कि अमुक-अमुक स्थान पर इतना-इतना माल है। चींटियों और मधुमक्खियों के मुँह के पास की मूछें उनका यह साधन बताया जाता है।

मुर्गी के बच्चे जब उससे दूर होते हैं, और जब कोई संशयास्पद एवं भयजनक पदार्थ उसे अपने पास आता मालूम पड़ता है, तब तुरन्त वह एक विशेष प्रकार का स्वर करती है और उसके बच्चे अपनी माँ का वह स्वर सुनते ही उसके डैनों के नीचे जा पहुँचते हैं—यह बात बहुतों ने देखी होगी। रे नाम के एक आदमी ने देखा है कि मुर्गी अपने भिन्न-भिन्न मनोविकारों को आठ-दस जुदा-जुदा स्वरों में व्यक्त करती है।

घोड़े और खच्चर का परस्पर सम्भाषण सांकेतिक भाषा में कैसे होता है, इसका एक उदाहरण नीचे दिया जाता है।

एक घोड़ा एक छोटे-से अहाते में रहता था। उस अहाते

में एक फाटक था और उसमें बाहर-भीतर हमेशा लकड़ी लगी रहती थी। इतने पर भी अनेक बार घोड़ा बाहर निकल आता था! इसके लिए वह यह युक्ति करता। पहले अपना सिर ऊँचा करके अन्दर की लकड़ी निकाल डालता और फिर खूब जोर से हिनहिनाने लगता। उसकी इस हिनहिनाहट को सुनते ही पास के बाड़े से एक खच्चर वहाँ आता और बाहर की लकड़ी निकाल देता। फिर दोनों मजे से बाहर आकर मौज किया करते थे।

बिल्ली और कुत्ते अनेक बार भिन्न-भिन्न स्वरों में और अंग-विक्षेपों के द्वारा अपना हेतु व्यक्त करते हैं। कई बार घर में पली हुई बिल्ली और कुत्ती जब किसी साँप वग़ैरा को देखती हैं तब उसकी ओर अपने मालिक का ध्यान आकर्षित करने के लिए नाना प्रकार के उपाय करती हैं। पहले-पहल तो मालिक के पास जाकर पुकार करती हैं और वह पीछे-पीछे आवे इसके लिए उस तरफ़ को चलती हैं। इस युक्ति में सफल न हों तो फिर वे अपने मालिक की धोती या कुर्ता अपने मुँह या पंजे में दबा कर उसे उस तरफ़ ले जाने का प्रयत्न करती हैं। मतलब यह कि किसी-न-किसी प्रकार मालिक उस तरफ़ चले।

एक मजूरिन हर रोज दूध निकालने के बाद प्याले में दूध लेकर उसे एक टेरियर कुत्ते को दिया करती थी। एक दिन सिलाई के किसी काम में उलझी रहने के कारण वह उस टेरियर

को दूध देना भूल गई। तब उस कुत्ते ने नाना प्रकार से उसे दूध देने की याद दिलाने का प्रयत्न किया; परन्तु वह सफल न हुआ। अन्त में वह रसोईघर से एक प्याला लाया और दाँतों से पकड़ कर उसके सामने रक्खा और इस प्रकार अपनी आवश्यकता प्रकट की। यह ध्यान रखने योग्य बात है कि इस कुत्ते को इस तरह की आदत पहले कभी न थी।

अपने मालिक के कष्ट में पड़ने पर, दूसरों तक यह बात पहुँचा कर, मालिक की मुक्ति कराने के बारे में कुत्ते-कुत्तियों के बहुत-से उदाहरण दिये जा सकते हैं। आवर्डीन के पास डा० बीटी पर घटित होने वाला एक उदाहरण लीजिए। शरद-ऋतु में वहाँ की डी नाम की नदी बर्फ से जमी पड़ी थी, उस समय आर्यविन नाम का मनुष्य नदी से उसपार जा रहा था। जाते-जाते बीच ही में उसके पाँवों के नीचे का बर्फ पिघल कर फट पड़ा और वह पानी में जा गिरा। सौभाग्य से उसके पास एक बन्दूक थी। उसे उस छेद पर रख कर उसके आधार पर जैसे-तैसे वह पानी में लटकता रहा। उसके पास एक विश्वस्त कुत्ता था उसने अपने मालिक को बचाने का बहुत-कुछ प्रयत्न किया, परन्तु उसे सफलता न मिली। तब तुरन्त ही वह कुत्ता पास के गाँव में दौड़ गया और वहाँ जो मनुष्य उसे पहले-पहल दिखाई दिया उसके कोट को दाँतों से पकड़ कर उसे नदी की तरफ

खींचने लगा। उस कुत्ते का हेतु समझ कर वह आदमी उसके पीछे-पीछे गया और उसने आयर्विन को बचा लिया।

कुत्तों की ही तरह बिना पूँछ के और पूँछवाले बन्दर भी अपनी इच्छा, मनोविकार और साधारण विचार ध्वनि, अंग-विक्षेप, हाव-भाव इत्यादि के द्वारा प्रकट कर सकते हैं और इसके भी बहुतसे उदाहरण दिये जाते हैं। इतना ही नहीं बल्कि कुत्ती, बिल्ली, बन्दर इत्यादि प्राणी थोड़ा-बहुत अक्षर-ज्ञान भी कर सकते हैं। इस विषय में सर जॉन लैबॉक ने बहुत-से प्रयोग किये हैं और उनपर से उसने यह सिद्ध किया है कि इन प्राणियों को अक्षरों व चिन्हों का कुछ ज्ञान कराया जा सकता है। स्थानाभाव से ये प्रयोग यहाँ नहीं दिये जा सकते। परन्तु इन सब बातों और विवेचना का सार एक ही है, और वह यही कि हम बोलते-लिखते हैं वह भाषा यद्यपि पशुओं को नहीं आती, फिर भी वे अपने मनोविकार, इच्छा और मामूली विचार अंग-विक्षेप, हाव-भाव अथवा अस्पष्ट एवं अस्फुट ध्वनि के द्वारा दूसरों पर प्रकट कर सकते हैं। अथवा इसी बात को दूसरे शब्दों में कहा जाय तो कहना होगा कि पशुओं में भी एक प्रकार की सांकेतिक भाषा प्रचलित है।

इस सम्बन्ध में दूसरी ध्यान रखने लायक बात यह है कि हमेशा के व्यवहार में भी हम जिस भाषा का उपयोग करते हैं

उसमें अनेक बार हमारा अर्थ-बोध ठीक होने के लिए हम भी उपयुक्त सांकेतिक पद्धति अर्थात् स्वर-भेद, हाव-भाव और अंग-विक्षेप इत्यादि का उपयोग करते हैं। वेदों में शब्दों का अर्थ स्वर-भेद पर अवलम्बित है, यह बात सर्वश्रुत है। इन्द्र को दण्ड देने के लिए वृत्रासुर ने शंकर से वर माँगा। उस समय 'इन्द्र शत्रुः' शब्द में दूसरी जगह स्वर करने के सबब उस शब्द का इतना विपरीत अर्थ हुआ कि इन्द्र को दण्ड देने की शक्ति वृत्रासुर को मिलने के बजाय उलटे इन्द्र को ही वृत्रासुर का वध करने की शक्ति प्राप्त हो गई और इस जरा-सी ग़लती के सबब वृत्रासुर का मरण हो गया। मतलब यह कि शब्दों का अर्थ अनेक बार इसपर अवलम्बित रहता है, जिस प्रकार कि हम उस शब्द का उच्चारण करते हैं। स्वर-भेद और अंग-विक्षेप का बोलने में हमें कितना उपयोग होता है, इसकी ओर हमारा लक्ष्य अभी तक नहीं गया है। इससे हम इसकी कल्पना नहीं कर सकते। परन्तु इस बात की ओर हम अगर पूरा ध्यान दें तो वह हमें मालूम पड़ जायगा।

छोटे बच्चों की ही बात हम लें तो हमें मालूम पड़ेगा कि बिलकुल छोटी अवस्था के बच्चे अपने विचार किंवा इच्छा प्रकट करने के लिए शब्दों का उपयोग शायद ही कभी करते हैं। उदाहरण के लिए ५-६ महीने का बच्चा अपनी माँ के पास आने

पर उसकी तरफ देखते हुए हँस कर अपना हर्ष प्रकट करता है। भूख लगने पर रोने लगता है। इसके बाद जैसे-जैसे उसमें समझ आती जाती है वैसे-वैसे उसकी इच्छायें और आवश्यकतायें बढ़ती जाती हैं। तथापि इन सब आवश्यकताओं या इच्छाओं को वह अंग-विक्षेप, इशारों और भिन्न-भिन्न स्वरों से व्यक्त करता है। जन्म से ही जो बालक पागल होते हैं, अथवा जिनके बोलने में हकलापन होता है, ऐसे बालकों को बड़े होने पर भी बहुत बोलना नहीं आता। मगर अपनी सब इच्छायें वे उक्त सांकेतिक भाषा की मदद से प्रकट कर सकते हैं। अंग-विक्षेप और स्वर-भेद का अपने विचार परिणामकारक रीति से दूसरों को समझा देने में कितना उपयोग होता है, यह उनकी समझ में सहज ही आजायगा, जिन्होंने कि प्रसिद्ध-प्रसिद्ध वक्ताओं के भाषण सुने होंगे अथवा जिन्होंने अभ्यस्त नटों के अभिनय देखे होंगे। तथापि इस सम्बन्ध में हमारे रात-दिन के अनुभव में आने-वाला भी एक उदाहरण दिया जा सकता है और वह तोतले मनुष्यों का है। तोतले आदमी जब बोलते हैं तब वे सदा हाथों का इशारा करते जाते हैं, यह बहुतों ने देखा होगा। उनमें भी जब कभी वे बहुत अड़ते हैं उस समय उनके हाथों के इशारे इतने ज्यादा होते हैं कि मानों उनके द्वारा अपने विचार मुँह से बाहर निकालने का उनका निश्चय ही हो गया हो।

शब्द-प्रयोग के साथ ही स्वर-भेद और हाव-भाव का भी हमारा अर्थ व्यक्त करने में कितना सहज उपयोग होता है, यह इन उदाहरणों से स्पष्ट है।

बिलकुल जंगली हालत में रहने वाले लोगों को देखने पर भी हमें विशेषतया यही बात मालूम पड़ेगी। आफ्रिका और अमेरिका में जो बिलकुल जंगली और आदिम जातियाँ हैं (जिनका सुधार नहीं हुआ है), उनके व्यवहार पर यदि हम ध्यान दें तो मालूम पड़ेगा कि अपने निरन्तर व्यवहार में उक्त सांकेतिक भाषा का वे बहुत ज़्यादा उपयोग करते हैं। कर्नल मैलरी ने ऐसे लोगों की भाषाओं के सम्बन्ध में एक बड़ी पुस्तक लिखी है। उसमें यह बात साफ़ तौर पर बताई गई है। इतना ही नहीं बल्कि उसने यह भी बताया है कि उनके बहुत-से इशारे और हाव-भाव बिलकुल वैसे ही होते हैं, जैसे हम करते हैं। इसपर से उसका यह कहना है कि हाव-भाव और स्वर-भेद की भाषा एक प्रकार की नैसर्गिक और साधारण भाषा है। ये जंगली लोग इस सांकेतिक भाषा के द्वारा घण्टों एक-दूसरे से कैसे बोलते रहते हैं, टायलर ने इसके बहुत-से वर्णन दिये हैं।

एक और बात से भी यह सिद्ध होता है कि अंग-विक्षेप और हाव-भाव इत्यादि की भाषा नैसर्गिक भाषा है। जो लोग जन्म ही से गूंगे और बहरे होते हैं, अवश्य ही वे आजन्म नहीं

बोल सकते। ऐसे लोगों की भाषा यही है। सभ्य देशों में जब जंगली लोग पहले-पहल आते हैं तब उन सभ्य, (सुधरे हुए) लोगों में बहरे-गूंगों को देख कर उन्हें बड़ा आनन्द होता है। क्योंकि इन लोगों से अपनी सांकेतिक भाषा के द्वारा वे थोड़ा-बहुत बोल तो सकते हैं!

चीन में गये हुए एक अंग्रेज के बारे में कहा जाता है कि वह एक होटल में गया और वहाँ के नौकर ने उसके सामने एक तश्तरी में कुछ मांस लाकर रक्खा। वह यह जानना चाहता था कि यह मांस किसका है। परन्तु उसे चीनी भाषा न आती थी, और वह चीनी बाल-नौकर अंग्रेजी भाषा नहीं जानता था। तब इस नैसर्गिक भाषा का ही सहारा लिया गया। अंग्रेज ने तश्तरी की तरफ़ इशारा करके 'केक्-केक्' (Quack, Quack) कहा और उस छोकरे ने 'बॉउ,वॉऊ' (Bow, Wow) उत्तर दिया। बस, उसने ताड़ लिया कि यह मांस कुत्ते का है।

इसपर से पाठकों को यह कल्पना हो गई होगी कि हाव-भाव और अंग-विशेष इत्यादि का जंगली और बहरे-गूँगे लोगों में कितना उपयोग होता है। ये लोग इस सांकेतिक भाषा का उपयोग हमारी सदा की भाषा की भाँति बोलने अथवा दूसरों से अपने विचार कहने के काम में सपाटे के साथ किया करते हैं। परन्तु अपनी हमेशा की भाषा के बजाय यदि इस सांकेतिक और

स्वाभाविक भाषा का उपयोग करना हमें आ जाय, तो भी यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि हम इस तरह से अपने सब विचार इस भाषा के द्वारा व्यक्त नहीं कर सकते। जंगली लोगों और जन्म से ही गूंगे-बहरे पैदा होने वाले लोगों की बुद्धि जैसे हमारी अपेक्षा बहुत कम होती है वैसे ही उनके विचार भी हमारी ही तरह गहन, गूढ़ और अमूर्त-स्वरूप के नहीं होते और उनकी रहन-सहन बिलकुल सादा होती है। उनकी जरूरतें बहुत थोड़ी होती हैं। खाने, पीने, शिकार करने इत्यादि ऐसी ही बातों में उनका सब समय जाता है। इससे उनके विचार भी बिलकुल सादा होते हैं और इसीलिए उन्हें एक-दूसरे से इस सांकेतिक भाषा में बोलना आता है। उनकी इस सांकेतिक भाषा के व्याकरण और उसकी वाक्य-रचना का जिन लोगों ने अध्ययन किया है उनके लिखने से भी यही बात स्पष्ट होती है। हमारी भाषा की अपेक्षा इस भाषा का व्याकरण अत्यन्त सरल और वाक्य-रचना अत्यन्त ग्रामीण होती है। हमारी भाषा में जिस प्रकार संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया इत्यादि भेद होते हैं उस प्रकार उनकी भाषा में बहुत-से भेद नहीं मिलते, और भाववाचक नामों और अमूर्त्त विचारों के वाचक शब्द तो बिलकुल नहीं होते। इसीलिए जब-तक यह या इस तरह की भाषा प्रचलित होती है तबतक हमारे विचारों की दौड़ भी बहुत दूर तक नहीं जा सकती। कारण

कि इस भाषा के द्वारा ऐसे अमूर्त स्वरूप के विचार किंवा कल्पना हम एक-दूसरे से नहीं कह सकते। उदाहरणार्थ, आज-कल के समाचारपत्रों में की किसी टिप्पणी को इस भाषा के द्वारा दूसरों को समझाना हो तो वह असम्भव ही होगा; और इसका कारण यही है कि इस प्रकार की स्वाभाविक किंवा नैसर्गिक भाषा बिलकुल सादे विचारों की अपेक्षा दूसरे विचार व्यक्त करने में असमर्थ है। तथापि, उपर्युक्त विवेचन पर से इतनी बात स्पष्ट होगी कि, बोलना-लिखना आनेवाली भाषा के सिवा भाषा के जो दूसरे ऊपर कहे हुए प्रकार हैं वे हममें और पशुओं में एकसे होते हैं और कम-ज्यादा परिमाण में प्रचलित हैं। अतएव इस दृष्टि से हमें यह मानने का कोई कारण नहीं कि पशुओं में और हममें बहुत भेद है।

अब हम भाषा के मुख्य प्रकार अर्थात् बोलने में आनेवाली भाषा अथवा बुद्धिमत्ता के साथ किये जानेवाले शब्द-प्रयोगों किंवा वाक्य-प्रयोगों पर विचार करेंगे। हम जिस प्रकार शब्द या वाक्य बोलते हैं, जानवरों को उस प्रकार शब्द या वाक्यों का उच्चारण करना नहीं आता। यह बात यदि सत्य हो तो भी केवल इतनी सी बात पर हम यह नहीं कह सकते कि उनकी और हमारी बुद्धि में बड़ा भारी फ़र्क़ है। क्योंकि बोलना आने-न आने पर मनुष्यों का मनुष्यत्व अवलम्बित नहीं है। मनुष्य की व्याख्या

यह करें कि "जिसे बोलना आता हो वही प्राणी मनुष्य है" तो वह ठीक न होगी। क्योंकि न बोलनेवाले मनुष्य भी बहुत-से मिलते हैं; अनेक मनुष्य जन्मतः गूँगे होते हैं और मरण-पर्यन्त गूँगे ही रहते हैं। बीमारी में जिनकी दाँती भिंच जाती है, अथवा जिन्हें जिव्हा-स्तम्भ (Aphasia) हो जाता है, उनकी ज़बान एकाएक बन्द हो जाती है। दूर क्यों जायँ, मनुष्य ही पैदा होने के साथ ही कहाँ बोल सकता है! कम-से-कम डेढ़-दो वर्ष का हुए बग़ैर उसे बोलना नहीं आता। अतएव बोलना आना ही बुद्धिमानी का कोई खास लक्षण नहीं है; यह तो उन-उन प्राणियों के मुँह और कण्ठ के स्नायुओं एवं मज्जा-तन्तु की विशिष्ट रचना और उसके विकास पर अवलम्बित है।

इस सम्बन्ध में दूसरी महत्व की बात यह है कि ऊपर न बोल सकने वाले जिन मनुष्यों के उदाहरण दिये गये हैं उन्हें खुद तो बोलना नहीं आता, मगर दूसरे लोग जो बोलते हैं उसका मतलब वे समझते हैं; और यदि यह कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति न होगी कि बोलना आने की अपेक्षा बोलने को समझना ही बुद्धिमत्ता का वास्तविक लक्षण है। जो लोग जन्मतः पागल होते हैं, वे चाहे जितनी बड़-बड़ कर सकते हैं। परन्तु उस बड़बड़ का अर्थ क्या होता है? उनका दिमाग़ विकृत होता है और उनकी बुद्धि कुण्ठित होती है, इसलिए चाहे वे भड़भड़ बड़-

बड़ कर लें मगर दूसरों के उच्चारण किये हुए सादे वाक्य तक उनकी समझ में नहीं आते। इसके विपरीत एक वर्ष की वय के बालक को लीजिए। उसे बोलना बिलकुल नहीं आता, परन्तु उसका दिमाग़ ताज़ा होता है और वय के परिमाण में बुद्धि कुछ कम नहीं होती; इससे बोलना आने से पहले ही वह औरों का बोलना समझने लगता है। अतएव यह समझना भूल होगी कि शब्दों या वाक्यों का केवल उच्चारण करना न आया तो बुद्धि बिलकुल नहीं है। इसके विपरीत शब्दों या वाक्यों का अर्थ समझ में आना ही बुद्धिमत्ता का लक्षण मानना चाहिए।

अब इस दृष्टि से पशुओं की ओर देखें तो हमें मालूम पड़ेगा कि रात-दिन मनुष्य के संसर्ग में आनेवाले कुत्ते, बिल्ली, घोड़े, हाथी, मनुष्यनुमा बन्दर इत्यादि प्राणी शब्दों के अर्थ ही नहीं समझने लगते बल्कि अभ्यास से कई वाक्यों के अर्थ भी वे ठीक-ठीक लगा लेते हैं। कुछ ही दिनों में ये अपने नाम पहचानने लगते हैं, यह हम रात-दिन देखते ही हैं। सर्कस में इन प्राणियों को थोड़ी-सी ही शिक्षा में कितने तरह के शब्द और वाक्य समझा दिये जाते हैं। यह प्रश्न महत्वपूर्ण है, इसलिए इस सम्बन्ध में विश्वास-योग्य कुछ उदाहरण और दिये जाते हैं।

प्रो० गेराल्ड यो के पास एक कुत्ता था। उसने उसे ऐसा सिखाया था कि उसे जो भी चीज़ खाने को दी जाती जबतक

उसका मालिक 'दी गई' (Paid for) न कहता तबतक वह उसे मुँह में न रखता, खाने की चीज को अपने नथने पर रक्खे रहता था। 'दी गई' (Paid for) शब्द को वह इतनी अचूकता के साथ पहचानने लगा था कि किसी वाक्य में भी वह इस शब्द को सुनता तो तुरन्त अपने मुँह की चीज़ को खा जाता था। इसके विपरीत 'दी गई' (Paid for) जैसा दूसरा कोई भी शब्द सुनने पर वह ऐसा कभी न करता। स्काटलैण्ड में एक किसान के पास एक कुत्ता था। वह मालिक की बहुत-सी बोल-चाल समझता था। हॉग नामक कवि ने उस कुत्ते का हाल लिखा है। एक दिन उसका मालिक अपने घर पर चुपचाप बैठा हुआ था और कुत्ता भी उसके पास ही पड़ा हुआ था। किसान ने हॉग को अपनी बात का विश्वास कराने के लिए हमेशा की तरह कहा, "जान पड़ता है कि हमारे खेत में बछड़े आ घुसे हैं और आलू खा रहे हैं।" अपने मालिक के ये शब्द सुनते ही कुत्ता भागा हुआ आलू के खेत पर पहुँचा और उस खेत का चक्कर लगाया। परन्तु खेत में बछड़े बिलकुल न थे, इसलिए लौटकर वह चुपचाप अपने मालिक के पास आ बैठा। किसान ने फिरसे कहा, "जान पड़ता है कि बछड़े खेत में ही हैं।" इन शब्दों का सुनते ही कुत्ता फिर पहले ही की तरह उठा और खेत के पास जाकर लौट आया। परन्तु तीसरी बार जब मालिक ने उन्हीं शब्दों

को दुहराया तो कुत्ते को विश्वास होगया कि मालिक मुझे बहका रहा है, इसलिए मालिक की तरफ़ देख कर उसने सिर्फ़ अपनी पूँछ हिलाई और चुपचाप बैठ गया।

लन्दन के प्राणी-संग्रहालय का एक चिम्पञ्जी (मनुष्य-नुमा बन्दर) इस बात का और भी अधिक विश्वसनीय उदाहरण है कि जानवर शब्दों के अर्थ समझ सकते हैं। इस बन्दर को उसके रक्षक ने इतने शब्द और वाक्य सिखाये थे कि इस विषय में यह बन्दर पूरा बोलना न आनेवाले छोटे बालक जैसा ही मालूम पड़ता था। उसे कुछ निश्चित शब्द और वाक्य ही नहीं आते थे, बल्कि उन शब्दों का भिन्न-भिन्न वाक्यों में होनेवाला उपयोग भी मालूम था। उदाहरणार्थ, रक्षक उसके हाथ में घास का तिनका देकर उस तिनके को पिंजरे के चाहे जिस छड़ से बाहर निकालने को कहता था। वह कहता कि "तेरे पाँव के पास की चीज को अपने पास की छड़ से छड़ के रास्ते बाहर निकाल।" और तुरन्त ही उस-उस छड़ के रास्ते वह बन्दर उस तिनके को बाहर निकाल देता था। इस समय वह रक्षक अपने हाथों से अथवा और किसी प्रकार उसको कोई इशारा नहीं करता था। इस बात को लन्दन में बहुतेरे आदमियों ने अपनी आँखों देखा है।

इसपर से इस बात की कल्पना पाठकों को होगी कि

पशुओं में शब्दों का अर्थ समझने की कितनी शक्ति है। और उसपर से उनकी बुद्धिमत्ता की भी गवाही मिलेगी। इस विषय में उनकी बुद्धिमत्ता खास तौर पर एक डेढ़ वर्ष के बच्चे जितनी होती है। दोनों में फ़र्क इतना ही है कि छोटे बच्चे की बुद्धिमत्ता इसके आगे बराबर बढ़ती जाती है, और पशु की बुद्धिमत्ता यहीं समाप्त हो जाती है। और इसका मुख्य कारण यही है कि छोटे बच्चे में इस समय वाणी न होने के सबब उसे बोलना नहीं आता है तथापि उसमें बोल सकने की शक्ति होती है; इसलिए आगे जैसे-जैसे वह बढ़ता जाता है वैसे-वैसे वह बोलने लगता है, और जैसे ही उसे मोड़-तोड़ कर बोलना आने लगता है वैसे ही तत्काल उसकी बुद्धिमत्ता पर उसकी प्रतिक्रिया होकर वह बढ़ती जाती है। बुद्धिमत्ता बढ़ी कि वह अधिक बोलने लगता है। इस प्रकार यह भाषा किंवा वाणी और बुद्धिमत्ता की क्रिया-प्रतिक्रिया बराबर जारी रहकर कुछ दिनों में छोटे बच्चे की बुद्धिमत्ता पशुओं की सामान्य बुद्धिमत्ता की अपेक्षा इतनी अधिक बढ़ती है कि हमें ऐसा मालूम पड़ने लगता है मानों इन दोनों की बुद्धिमत्ता का एक दूसरे से कोई संबंध नहीं है, एक की बुद्धिमत्ता से दूसरे की बुद्धिमत्ता का विकास होना असम्भव है। प्रारम्भ में यह बात हमारी समझ में नहीं आती कि वाणी का विचारों और बुद्धिमत्ता पर कितना अधिक असर होता है; और इसलिए यह

कहना हमें आश्चर्य-पूर्ण मालूम पड़ता है कि केवल मनुष्यों की वाणी के सबब उनकी बुद्धि का इतना विकास हुआ। हमें ऐसा मालूम पड़ता है कि पशु की अपेक्षा मनुष्य इतना बुद्धिमान है कि उसका कारण उसमें केवल वाणी का होना न होकर उन दोनों के मूल में ही दूसरा कोई-न-कोई बड़ा फर्क होना चाहिए। मनुष्य की विचार-शक्ति बढ़ाने के काम में वाणी का कितना बड़ा उपयोग होता है, इसे एक-दो दृष्टान्त देकर स्पष्ट किया जायगा।

पहला दृष्टान्त हम गणित-शास्त्र का लेंगे। गणित में अंकों का कितना उपयोग है, प्रारम्भ में यह बात हमारी समझ में नहीं आती। परन्तु ऐसा कहें तो उसमें रञ्चमात्र अतिशयोक्ति न होगी कि अगर मूल में अंकों की कल्पना ही न हुई होती तो गणित-शास्त्र ही उत्पन्न न होता। अंकों की कल्पना बिलकुल सादी और आसान है। परन्तु इस अत्यन्त सीधी और सरल कल्पना के पायों पर ही गणित-शास्त्र की विशाल इमारत उठी हुई है। आरम्भ में अंक ही न निकाले गये होते तो जोड़, बाक़ी, गुणा, भाग इत्यादि गणित के सवालों को हम कैसे करते ? यही नहीं, अंकों के न होने से बहुत होता तो अंगुलियों के द्वारा दस पर्यन्त अंक गिने जा सकते। परन्तु आगे सब गड़बड़ हो जाती और ज्ञान की वृद्धि रुक जाती। बिलकुल जंगली लोगों में अंक व संख्याओं की कल्पना बहुत कम होती है। अतः जोड़, गुणा, बाक़ी की

कल्पना उन्हें बिलकुल नहीं होती। ऐसे लोगों से काम पड़ने पर एक भेड़ की क़ीमत जब एक चुरुट या एक बन्दूक ठहर जाय तो पाँच भेड़ लेकर उसके बदले उन्हें एक साथ पाँच बन्दूकें या चुरुट देने पर वे गड़बड़ा जाते हैं। ऐसे समय उन्हें प्रत्येक भेड़ की क़ीमत अलग-अलग देनी पड़ती है।

इस संबंधी दूसरा दृष्टान्त विनिमय-शास्त्र से दिया जा सकता है। पैसे के अभाव में देन-लेन करना कितना कठिन, झंझट का और त्रासदायक होता है, इसकी कल्पना इस बात का विचार करने पर सहज ही हो जायगी कि आज संसार में जितना धन है उसे नाम-शेष कर दें तो कैसी गड़बड़ मच जायगी। वस्तुतः देखें तो स्वयं अथवा केवल धन से हमारी कोई भी जरूरत पूरी नहीं होती, मगर धन के अभाव में हमारा सारा व्यवहार भी क़रीब-क़रीब रुक ही जाता है। धन की कल्पना ही न निकाली गई होती तो सारे व्यवहार में अदला-बदली का स्वरूप आया होता। श्रम-विभाग का तत्त्व अमल में न आया होता। उद्योग-धन्धों की वृद्धि न हुई होती और सुधार की दृष्टि से समाज बिलकुल हीन या जंगली स्थिति में रहा होता। अतः गणितशास्त्र की वृद्धि में जो महत्व अंकों का है, अथवा उद्योग-धन्धों की वृद्धि में धन की जो आवश्यकता है, वही आवश्यकता मनुष्य की बुद्धिमत्ता की वृद्धि में भाषा की है।

भाषा भिन्न-भिन्न शब्दों से मिल कर बनी हुई है, और वे भिन्न-भिन्न शब्द हैं मूर्त्त और अमूर्त्त वस्तुओं एवं कल्पना के हमारे द्वारा रक्खे हुए नाम। अतएव जैसे धन हमारी किसी भी आवश्यकता की पूर्ति करने का प्रत्यक्ष साधन नहीं है, उसी प्रकार शब्द भी कोई पदार्थ नहीं बल्कि उस पदार्थ का हमारे द्वारा रक्खा हुआ नाम है। आम शब्द उच्चारण करते ही हमारे मनः-चक्षुओं के सामने एक हरे रंग का फल उपस्थित होता है। कुत्ता शब्द उच्चारण किया कि एक विशिष्ट प्राणी का चित्र हमारे मन के सामने आता है। इसमें खास ध्यान रखने की बात यह है कि ये दोनों शब्द वह-वह पदार्थ या प्राणी नहीं होते। शब्द तद्वाचक पदार्थ से बिलकुल भिन्न है। वह तो उस चीज को हमारा दिया हुआ नाम अथवा उस पदार्थ को पहचानने के लिए मन में योजित किया हुआ हमारा चिन्ह है। तथापि एक बार पदार्थों को हमने ऐसे नाम दे दिये तो उससे व्यवहार में एक दूसरे से विचार-विनिमय करने में बड़ी आसानी होती है। कुत्ता शब्द को ही लीजिए। इस दो अक्षरी शब्द से ही एकदम कितना अर्थ व्यक्त होता है! कुत्ता शब्द उच्चारण करते ही हमारे मनःचक्षुओं के सामने एक चार पाँव, लम्बी नाक का भौंकने वाला प्राणी आ उपस्थित होता है। जो जंगली लोग अपना बहुत-सा व्यवहार इशारों के द्वारा अर्थात् सांकेतिक रीति से

ही चलाते हैं उन्हें जब कुत्ते की कल्पना दूसरों को करानी हो तो कितनी खटपट करनी पड़ती है ? कर्नल मैलरी ने इसके लिए अपनी पुस्तक में ये संकेत दिये हैं, "सबसे पहले हाथ का पंजा भींच कर अपने मुँह की तरफ़ खींचना। इस से कुत्ते की लम्बी नाक और मुँह व्यक्त होता है। इसके बाद कुत्ते के लम्बे दाँत दिखाने के लिए एक और संकेत किया जाता है। अन्त में कुत्ते का भौंकना दिखाने के लिए अपने ओठ और मुँह को जल्दी-जल्दी आड़ा-टेढ़ा हिलाना पड़ता हैं।" इस प्रकार जो कल्पना हम केवल दो अक्षरों से व्यक्त कर सकते हैं, भाषा के अभाव में, उसके लिए इन लोगों को बड़ा परिश्रम करना पड़ता है। इसलिए सर्वप्रथम तो सुविधा की। दृष्टि से हमें शब्दों का और इसलिए भाषा का बड़ा उपयोग है। तदुपरान्त भाषा का दूसरा और इससे भी बड़ा उपयोग बुद्धिमत्ता की वृद्धि में होता है। जबतक भाषा प्रचलित नहीं हुई होती, जबतक जो-जो बात हम देखते हैं उनके शब्द रूपी नाम नहीं रक्खे जाते, तबतक हमारे विचारों की दौड़ बाह्य, दृश्य अथवा इंद्रियगम्य सृष्टि के उसपार जाना कभी संभव नहीं होता। भाषा के अभाव में, बाह्य सृष्टि के उत्पन्न किये हुए संस्कार जबतक हमारी इन्द्रियों पर होते हैं तब-तक हमें उस सृष्टि का ज्ञान रहता है। वे संस्कार नामशेष हुए नहीं कि उसके साथ ही हमारा उस विषयक ज्ञान भी नहीं-सा

हो जाता है, मन शून्याकार होता है। अथवा बहुत हुआ तो ज्ञान थोड़े समय तक बचा रह जाता है। तब ऐसी स्थिति में जहाँ मूर्त्त-वस्तु की कल्पना तक हमारे मन में बहुत समय तक नहीं टिकती वहाँ अमूर्त्त वस्तु का बिचार या कल्पना कहाँ से आयगी? पशुओं में भाषा न होने से उनके विचार बिलकुल गुण-धर्म-विशिष्ट अकेवल और मूर्त्त-स्वरूप के होते हैं और इसी वजह से जो लोग जन्म से ही गूंगे-बहरे होते हैं उनके विचारों की दौड़ भी इससे बहुत आगे नहीं जा सकती। परन्तु एक बार हमने शब्द प्रचलित किये नहीं कि शनैःशनैः यह स्थिति बदलनी शुरू हो जाती है। क्योंकि शब्दों के प्रचलित होते ही प्रचलित सिक्कों की तरह चारों तरफ़ उनका उपयोग होने लगता है। शब्दों की सुविधापूर्ण युक्ति से हमारे मन की ग्रहण-शक्ति में क्रमशः वृद्धि होते हुए उसमें अमूर्त्त विचार करने की सामर्थ्य आती जाती है और इस प्रकार बुद्धिमत्ता उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है।

ऊपर के विवेचन से यह बात समझ में आ गई होगी कि मनुष्य में होने वाली बोलने की शक्ति के कारण उसकी बुद्धिमत्ता पशु की बुद्धिमत्ता की अपेक्षा कितने गुणा अधिक होनी चाहिए। अतः पशुओं और हमारे बीच बुद्धिमत्ता की दृष्टि से जो बड़ा फ़र्क़ दृष्टिगोचर होता है उसका कारण यही है कि पशुओं

में हमारी तरह बोलने की शक्ति नहीं है। पशुओं को यद्यपि बोलना नहीं आता तथापि हमारे उच्चारण किये हुए शब्दों का अर्थ समझने जितनी बुद्धिमत्ता उनमें होती है, यह भी हम देख चुके हैं। इसपर से ऐसा कहने में कोई आपत्ति नहीं कि हमारी और पशुओं की बुद्धिमत्ता में होने वाला फ़र्क़ देखने में चाहे बड़ा हो मगर कोई विशेष गुण-दर्शक, गुण-विशिष्ट अथवा आत्यन्तिक स्वरूप का न होकर वह केवल उनके बीच होने वाले कम-अधिक दर्जे का ही निदर्शक है। क्योंकि ऊपर के इस बड़े फ़र्क़ के मूल में एक दूसरी क्षुद्र बात भी है। उनके मुँह और मुँह के अन्दर हलक़ के पास के स्नायुओं की रचना ऐसी है कि उसके सबब वे स्पष्टतया वर्णों का उच्चारण नहीं कर सकते। पीछे (पृष्ठ २५२ में) दिये हुए कुत्ते के उदाहरण में अगर हम क्षण भर के लिए ऐसी कल्पना करें कि उस कुत्ते को बोलना आता था, तो उस मनुष्य के कपड़े दाँत से पकड़ने के बजाय उसने उससे खासतौर पर "नदी की तरफ़ चलो" या इसी आशय के दूसरे कोई शब्द कहे होते। अस्तु।

मनुष्यों और पशुओं की बुद्धिमत्ता में दीखने वाला बड़ा फ़र्क़ जितना दीखता है उतना बड़ा नहीं है, मनुष्य की बुद्धिमत्ता की वृद्धि छोटेपन से बड़े होने तक किस प्रकार होती जाती है इसपर ध्यान देने से यह बात सहज ही समझ में आ सकती

है। मनुष्य जब बिलकुल छोटा अर्थात् चार-छः महीने का होता है उस समय वह एक अक्षर भी बोलना नहीं जानता और उसमें बुद्धिमत्ता क़रीब-क़रीब नहीं ही होती है। इस समय तो नीचे दर्जे के जानवरों की भाँति उसका सारा व्यवहार उत्पादक-बुद्धि से ही चलता है। इसके बाद जैसे-जैसे बढ़ता जाता है वैसे ही धीरे-धीरे समझ आती जाती है। परन्तु इस समय भी जब-तक उसे बोलना नहीं आता तबतक उसका व्यवहार पशुओं की भाषा तक ही परिमित रहता है—अर्थात् अंग-विक्षेप, हाव-भाव और अस्फुट एवं अस्पष्ट ध्वनि के द्वारा ही होता है। इस समय उस छोटे बच्चे को कहीं जाना हो तो वह अपनी माता से यह नहीं कह सकता कि "मुझे वहाँ ले चल।" बस, उस तरफ़ अपनी अंगुली का इशारा करके वह अपनी माता को यह बात बताता है और इतने पर भी वह उस तरफ़ न ले जाय तो फिर अपनी माता का पल्ला पकड़ कर अपने हेतु अधिक स्पष्ट करता है। तब इस विषय में छोटे बालकों में और ऊपर दिये हुए उदाहरण के कुत्ते में फ़र्क़ कहाँ रहा? क्योंकि कुत्ते और बिल्ली भी किसी मनुष्य को अपने इच्छित स्थान पर ले जाने का प्रयत्न इसी प्रकार करते हैं, यह हम देख ही चुके हैं। फिर यह भी हमें मालूम ही है कि बोलना आने से पहले बच्चे दूसरों का बोलना समझने लगते हैं और उसके अनुसार काम करते हैं।

इस विषय में उन बच्चों के उदाहरण खास तौर पर ध्यान देने योग्य है कि जिन्हें जल्दी बोलना नहीं आता। कुछ बच्चे ४ वर्ष के हो जाने तक भी बिलकुल बोलना नहीं जानते। मगर इससे उनका काम अड़ा नहीं रहता। कारण कि वे सांकेतिक भाषा अर्थात् इशारों का उपयोग करते हैं, और साथ ही दूसरों का बोलना भी बहुत-कुछ समझ लेते हैं। इसके बाद जब वे बोलने लगते हैं तब भी पहले-पहल वे बिलकुल सादे और अपने उपयोग में आने वाले शब्द ही सीखते हैं। बाबा, काका, दादा मानों उनके रात-दिन के देखने में आने वाले व्यक्तियों ही के नाम होते हैं। बचपन में बालक में अनुकरण-शक्ति बहुत होती है। अपने से बड़े क्या-कैसे बोलते हैं, उस ओर उनका बराबर ध्यान रहता है, और तोते की तरह वे उनका अनुकरण करने का प्रयत्न करते रहते हैं। इतना ही नहीं बल्कि इस समय वे भिन्न-भिन्न सीधे-सादे शब्द भी खोज निकालते हैं। छोटे बच्चों का बिल्ली और कुत्ते को 'म्याऊँ' और 'भों भों' कहना इसी प्रकार का है। यहाँ बिल्ली और कुत्ते की अपनी-अपनी बोली और उनकी शक्लों का ध्यान—इन दोनों का सम्बन्ध अथवा संगति छोटे बच्चों के मन में एकसी होती है, और इसी कारण छोटे बच्चे इस शब्द का व्यवहार करते हैं। इस विषय में छोटे बच्चों और तोता, मेना इत्यादि पक्षियों में बड़ा साम्य होता है। कारण कि तोता, मेना

इत्यादि पक्षी भी उनके हमेशा के देखने में आने वाले मनुष्यों के नाम जल्दी सीख लेते हैं। इतना ही नहीं बल्कि छोटे बच्चों की भाँति ये पक्षी भी कुछ शब्द अपने आप खोज निकालते हैं। तोता अपने मालिक के घर में रहने वाले कुत्ते को देखते ही उसके भोंकने की नक़ल करता है। यही नहीं बल्कि किसी दूसरे कुत्ते पर नज़र पड़ने पर भी वह नक़ल करता है। इस उदाहरण में यह कहने में क्या हर्ज है कि इसीलिए उस तोते ने अपने कुत्ते का नाम 'भों भों' रक्खा था? और इस दृष्टि से विचार करने पर तोते की बुद्धिमत्ता में और जिसने अभी ही बोलना शुरू किया हो ऐसे बालक की बुद्धिमत्ता में कौनसा बड़ा फ़र्क़ हुआ? इस समय भी इन दोनों की बुद्धिमत्ता में कोई फ़र्क़ नहीं होता; अथवा हो भी तो इतना ही कि पक्षियों की बुद्धिमत्ता इससे अधिक आगे नहीं जाती, जब कि छोटे बच्चे की बुद्धिमत्ता बराबर बढ़ती जाती है। परन्तु इसका कारण इन दोनों की बुद्धिमत्ता में होने वाला कोई मूल का ही फ़र्क़ नहीं है। मूल में दोनों एक ही हैं, परन्तु आनुवंशिक संस्कार एवं परिस्थिति-भिन्नता के कारण एक की बुद्धिमत्ता बराबर बढ़ती जाती है और दूसरे की थोड़े ही समय में समाप्त हो जाती है। उदाहरणार्थ, उक्त तोते की ही बात को लें तो हम देखेंगे कि किसी भी जिन्दा कुत्ते को देखते ही वह 'भों-भों' शब्द उच्चारण करेगा; परन्तु उसके सामने

यदि कुत्ते का चित्र रक्खा जाय तो वह यह नहीं समझ सकेगा कि असली कुत्ते में और उस चित्र में क्या सादृश्य है। परन्तु छोटे बच्चे के ध्यान में वह सादृश्य तुरन्त आ जाता है और वह जिन्दा कुत्ता, चीनी के कुत्ते, अथवा किसी किताब में होने वाली कुत्ते की आकृति, इन सबको 'भों भों' नाम से पुकारेगा। और यही शक्ति धीरे-धीरे बढ़ते हुए आगे जाकर वह इससे भी अधिक सूक्ष्म सादृश्य और वैधर्म्य को समझने लगता है। केवल दृश्य-पदार्थों के नामों से वह फिर गुणवाचक एवं क्रियावाचक शब्द सीख लेता है। क्रियापद, विशेषण, संज्ञा, सर्वनाम इत्यादि का उपयोग उसे मालूम पड़ने लगता है। धीरे-धीरे 'तू' और 'मैं' का अन्तर उसकी समझ में आकर वह अपने को 'मैं' के नाम से सम्बोधन करने लगता है। और इस प्रकार एकबार उसके ध्यान में यह आया नहीं कि हम किसी-न-किसी सृष्टि से भिन्न हैं, कि उसकी अन्दरूनी विचार-शक्ति बढ़ने लगती है और फिर इसके आगे उसकी बुद्धिमत्ता अपरिमित रूप से बढ़ते हुए वह ऊँचे दर्जे को पहुँच जाता है।

इस सब विवेचन से यह बात पाठकों के ध्यान में आ गई होगी कि यह मानने में कोई भी हर्ज नहीं कि मनुष्य की बुद्धिमत्ता पशुओं की बुद्धिमत्ता से अत्यन्त भिन्न न होकर उसीकी एक परिणत अवस्था है और इस दृष्टि से विचार करने पर यह

मानना चाहिए कि मनुष्य के मन का विकास पशु के मन से ही हुआ है।

सामान्य भ्रम

अभी तक हमने विकासवाद का विवेचन करके विकास कैसे होता है इस विषयक मीमांसा, और अन्त में मनुष्यों के शारीरिक एवं मानसिक क्रम-विकास इत्यादि बातों का विचार किया—और, यह कहने में हर्ज नहीं कि, प्रस्तुत पुस्तक का काम यहाँ समाप्त हो जाता है। परन्तु विकासवाद के सम्बन्ध में केवल ऊपरी अध्ययन करने वाले सामान्य पाठकों को कुछ भ्रम या ग़लतफ़हमी होना सम्भव है। और किसी भी तत्त्व को बताते समय उस सम्बन्धी भ्रम के निवारण का प्रयत्न किया ही जाना चाहिए, नहीं तो व्यर्थ गड़बड़ होती है। अतएव, इस गड़-

वड़ को दूर करने के लिए, इस आखरी अध्याय में विकास-सम्बन्धी सामान्य भ्रम की थोड़ी ऊहापोह की जाती है।

पहला सामान्य भ्रम विकासवाद और डार्विन की 'जातियों का मूल' किताब में प्रतिपादित प्राकृतिक चुनाव के सिद्धान्तों के परस्पर सम्बन्ध के बारे में है। कितने ही लोग विकासवाद और प्राकृतिक चुनाव को एक ही समझते हैं और इसलिए डार्विन को ही विकासवाद का जनक मानते हैं। परन्तु पहले अध्याय में विकासवाद का इतिहास देते हुए हम यह देख चुके हैं कि यह कहना ठीक नहीं है। कारण कि डार्विन से पहले बफन, लेमार्क, स्पेन्सर और स्वयं डार्विन के बाप इरसेमस डार्विन ने ही विकासवाद का प्रतिपादन किया था। तब इन सबकी अपेक्षा चार्ल्स डार्विन का विशेष कौशल कहें तो वह यही है कि उसने अपनी पुस्तक में इन बातों का लोगों को पढ़ने जैसा उत्कृष्ट विवेचन किया है कि विकास कहाँ होता है और उसके कारण क्या हैं, और इससे सर्व-साधारण के मनों में विकास की सचाई जमी। डार्विन ने अपनी पुस्तक में यह सिद्ध किया कि जीव-सृष्टि का विकास जीवन-संघर्ष और प्राकृतिक चुनाव के द्वारा होता है। अतः सर्वसाधारण में जब-जब विकासवाद शब्द आता है तब-तब उसके साथ डार्विन का नाम आने से उन्हें सहज ही यह भ्रम होता है कि विकासवाद, जीवन-संघर्ष और प्राकृतिक चुनाव,

सब एक ही बात है—इनमें परस्पर कोई अन्तर नहीं है। परन्तु यह उनकी भूल है। कारण कि डार्विन के कथनानुसार जीवन-संघर्ष और प्राकृतिक चुनाव से क्रमशः विकास होता जाता है। अथवा प्राणियों एवं वनस्पतियों में जो फेर-बदल होते जाते हैं उनका कारण उनमें भोजन के अभाव में जीवित रहने के लिए नवीन परिस्थिति का मुक़ाबला करने की आवश्यकता है। अतः विकासवाद और प्राकृतिक चुनाव दोनों एक न होकर उनमें परस्पर कार्य-कारण-सम्बन्ध है। प्राकृतिक चुनाव कारण है और विकास उससे होने वाला कार्य है।

डार्विन ने अपनी पुस्तक में प्रधानतः विकास के कारणों की मीमांसा की है और यह निश्चय किया है कि प्राकृतिक चुनाव विकास का मुख्य कारण है। इसलिए फिर विकास हुआ या नहीं, यह प्रश्न इस प्रश्न से बिलकुल स्वतंत्र है कि जीवन-संघर्ष जारी है या नहीं अथवा डार्विन का प्राकृतिक चुनाव का तत्त्व ठीक है या नहीं। विकास हुआ या नहीं, इस विषयक प्रमाण हम दूसरे अध्याय में देख ही चुके हैं। उसी प्रकार प्राकृतिक चुनाव संबंधी प्रमाण चौथे अध्याय में दिये गये हैं। इस अध्याय में दिये हुए प्रमाणों पर से प्राकृतिक चुनाव की सत्यता के बारे में किसी का समाधान होगा और किसी का नहीं भी होगा। डार्विन की जीवितावस्था में और उसके बाद कुछ वर्षों तक प्राकृतिक चुनाव

के तत्त्व पर लोगों का बड़ा भारी विश्वास था और प्राणिशास्त्री एवं वनस्पतिशास्त्रियों को ऐसा मालूम पड़ता था कि जीवसृष्टि का विकास होने में प्राकृतिक चुनाव का तत्त्व बहुत-कुछ अंशों में कारणीभूत हुआ होना चाहिए। परन्तु उसके बाद, आजकल, इस तत्त्व की व्यापकता के सम्बन्ध में बहुत-सी शंकायें उठी हैं। आनुवंशिकत्व के सम्बन्ध में मेण्डेल, डीरीस इत्यादि ने जो प्रयोग किये, और उन्हींके अनुरोध से आजकल जो प्रयोग किये जाते हैं, उनपर से शास्त्रज्ञों में, विशेष कर वनस्पतिशास्त्रियों में, इस प्राकृतिक चुनाव की सत्यता के बारे में बहुत-कुछ अविश्वास उत्पन्न हो गया है। तथापि प्रयोगों के अन्त में यदि प्राकृतिक चुनाव का तत्त्व बिलकुल ग़लत सिद्ध हो तो भी उससे विकासवाद को बिलकुल बाधा नहीं होती, होना सम्भव भी नहीं है। जिन वनस्पतिशास्त्रियों का प्राकृतिक चुनाव के तत्त्व पर से विश्वास उठा हुआ है, यह बात ध्यान देने योग्य है कि, विकासवाद की सत्यता पर उनका विश्वास अटल है।

विकासवाद के बारे में दूसरा सामान्य भ्रम यह है कि बहुतों को ऐसा मालूम पड़ता है कि विकास होने की बात प्राणिमात्र के पीछे लगी हुई है और उससे उनका छुटकारा सम्भव नहीं है। सर्व-साधारण की यह ग़लतफ़हमी थी कि जिस प्रकार जो प्राणी पैदा हुआ उसका कभी-न-कभी तो मरण होगा ही, उस मरण से

उसका छूट जाना सम्भव नहीं, उसी प्रकार विकास प्राणिमात्र के पीछे लगा हुआ ऐसा विधान है कि जिसका उल्लंघन नहीं हो सकता। मतलब यह कि कोई भी प्राणी पैदा हुआ नहीं कि उसका विकास होता जाना चाहिए, ऐसा उन्हें मालूम होता है। कारण कि हमने देखा ही है कि किसी भी प्राणी या वनस्पति का जो क्रम-विकास होता जाता है, अथवा उसकी शरीर-रचना में कालान्तर में जो अन्तर पड़ता जाता है, वह व्यर्थ नहीं होता। इसमें कुछ-न-कुछ कारण जरूर होता है। और यह कहने में हर्ज नहीं कि यह कारण साधारण तौर पर समस्त जीवसृष्टि में एक ही है। यह कारण परिस्थिति में होने वाला फेर-बदल और उस परिवर्तित परिस्थिति का समीकरण करने की प्राणि-मात्र की आवश्यकता है। यदि परिस्थिति न बदली, अथवा परिस्थिति बदल कर भी उसका किसी प्राणी पर विशेष परिणाम न हुआ, तो उस विशिष्ट प्राणी का विकास नहीं होगा। मतलब यह कि विकास होना न होना यह सारी बात आस-पास की परिस्थिति और उसकी उस प्राणी पर होने वाली प्रक्रिया पर निर्भर है। अतः यह कहना ठीक न होगा कि जीवसृष्टि का विकास एकसमान ही होना चाहिए।

मनुष्य का ही हम उदाहरण लें तो चार-पाँच हजार वर्ष पहले की जो ठठरियाँ मिलती हैं उनसे सिद्ध होता है कि इस

दर्मियान मनुष्य की शरीर-रचना में उल्लेखयोग्य कोई फ़र्क़ नहीं हुआ; अर्थात् इन चार-पाँच हजार वर्षों के दर्मियान उसके शरीर का तो विकास नहीं ही हुआ। इसका कारण है। अपने आसपास की परिस्थिति को सामाजिक एवं नैतिक बंधनों के द्वारा मनुष्य ने अपने आप ही कृत्रिम कर रक्खा है, जिससे प्रकृति के समस्त नियम मनुष्यों की इस कृत्रिम परिस्थिति पर बंधनकारक नहीं होते। अतः जीवन-संघर्ष का तत्त्व अवश्य ही मानवजाति पर अक्षरशः लागू नहीं होता। इस तथा अन्य कुछ ऐसे ही कारणों से मनुष्य का विकास कम-से-कम उसके शरीर की दृष्टि से तो नहीं ही हुआ।

प्राच्य-प्राणिशास्त्र और प्राच्य-वनस्पतिशास्त्र में हलके दर्जे के प्राणियों एवं वनस्पतियों के ऐसे कितने ही उदाहरण मिलते हैं कि उनमें आज लाखों वर्षों में बिलकुल फ़र्क़ नहीं हुआ। भ्रमवश कई लोग इसपर से यह अनुमान लगाते हैं कि इन उदाहरणों से यह सिद्ध होता है कि विकासवाद का सिद्धान्त ही ग़लत है। इन लोगों में यह धारणा मज़बूत जमी होती है कि विकासवाद सत्य हो तो प्रत्येक प्राणी का विकास होना ही चाहिए। तब फिर यदि ऐसे प्राणी मिलें कि बहुत समय तक उनमें विकास होता न दिखाई दे, तो उनकी समझ के अनुसार अवश्य ही विकासवाद ग़लत ठहरेगा। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। इतने समय में भी

इन प्राणियों का विकास न होने का कारण विकासवाद की असत्यता न होकर उन कारणों का अभाव ही होगा, जिनसे कि विकास होता है। ऊपर कहे हुए प्राणी या वनस्पति अत्यन्त सादा होने के कारण उनका भोजन भी अत्यन्त सादा और स्वाभाविक होता है। इससे उनमें जीवन-संघर्ष को जगह ही नहीं है। इसी प्रकार बाक़ी के प्राणियों की गर्दन और शरीर की रचना और रहन-सहन बहुत सादा होने के कारण आस-पास की परिस्थिति जब बदले तब बाक़ी के आदमियों पर उसका जैसा घनिष्ट परिणाम होता है वैसा इनपर नहीं होता। यदि इस प्रकार इन प्राणियों में विकास होना रुक गया।

विकास-विषयक तीसरा सामान्य भ्रम इस शब्द के अर्थ के बारे में है। इसका कारण, यह है कि इसपर से वास्तव में जो कल्पना मन में आनी चाहिए, दुर्भाग्य से, यह शब्द उसे ठीक-ठीक व्यक्त करने में असमर्थ है। विकास शब्द का अर्थ आगे बढ़ना होता है, इसलिए जब-जब हम यह कहते हैं कि किसी प्राणी का विकास होता है उस समय सहज ही हमारे मन में यह कल्पना आये बिना नहीं रहती कि वह प्राणी आगे-आगे बढ़ता जाता है अथवा उसकी प्रगति होती जाती है। इससे साधारणतया हम यह मान बैठते हैं कि जिस अर्थ में इस जीव-सृष्टि का विकास होता आया है उस अर्थ में आज तक बराबर

उसकी प्रगति ही होती आई होनी चाहिए। कारण कि हमारे मन में ऐसी कल्पना होती है कि विकास ही प्रगति है। परन्तु ऊपर दी हुई दोनों ग़लतफ़हमियों के समान यह भी ग़लतफ़हमी ही है, और इसे हमें अपने मन से निकाल डालना चाहिए।

विकास शब्द का शास्त्रीय अर्थ प्रगति नहीं है। विकास का तो अर्थ है. अपने आस-पास की परिस्थिति का अनुसरण कर उसके योग्य होने की क्रिया अथवा परिस्थिति से होनेवाला जीव का समीकरण (Adaptation to environment)। अतः किसी प्राणी का विकास होने का अर्थ यह नहीं कि उसकी प्रगति हुई अथवा उससे जो नया प्राणी उत्पन्न हुआ वह पहले से ऊँचे दर्जे का हुआ; बल्कि उसका विकास होने का अर्थ यह है कि उस प्राणी में कुछ फेर-बदल हुए कि जिनसे वह परिवर्तित परिस्थिति में टिक सकने में समर्थ हुआ। फिर वह अन्तर उस प्राणी को ऊँचे दर्जे में ले जाने जैसा हो अथवा वह उसे नीचे भी ढकेल सकता है। यह सब परिस्थिति पर निर्भर रहेगा। परिस्थिति यदि इस प्रकार बदले कि उस प्राणी को ऊँचे दर्जे में जाना उपयोगी हो तो निस्सन्देह उसका विकास ही होगा और उसके साथ-साथ प्रगति भी होगी। इसके विपरीत परिस्थिति में ऐसा परिवर्तन हुआ कि उस प्राणी को नीचे दर्जे में जाने पर लाभ होता है तो वह प्राणी रूस कर न बैठते हुए निस्सन्देह

नीचे के दर्जे में चला जायगा। क्योंकि ऊँचा और नीचा दर्जा, ये बातें सिर्फ हमारे मन की कल्पना हैं; और विकास जो होने-वाला है वह भी प्रकृति के नियमानुसार ही होगा—वह कहीं हमारे पसन्द-नापसन्द के मुताबिक़ नहीं होगा। अंग्रजी में एक कहावत है कि प्रकृति अन्धी है। इसका तात्पर्य यही है कि प्रकृति को मनुष्य की पसन्द-नापसन्द से कोई सरोकार नहीं है। प्रस्तुत स्थान पर प्रकृति का काम इतना ही है कि जब आसपास की परिस्थिति बदले तो उस परिवर्तित परिस्थिति का मुक़ाबला करने योग्य सामर्थ्य प्राणियों में आना चाहिए। फिर यह काम चाहे ऊँचे दर्जे में जाने से सम्पन्न हो अथवा नीचे दर्जे में जाने से हो। उससे प्रकृति को कोई मतलब नहीं है। प्राणी नीचे दर्जे में गया तो भी उसका विकास तो हुआ ही; परंतु, उसके साथ ही, हमारी दृष्टि से उसकी अवनति भी हुई। मतलब यह कि हम जब यह कहते हैं कि प्राणी या वनस्पतियों का विकास होता है, तब उनकी प्रगति होती ही, यह बात नहीं है। विकास के साथ प्रगति होना जितना शक्य है उतना ही अवनति होना भी संभव है।

उपर्युक्त भ्रम का एक कारण यह है कि विकास के उदाहरणों में हमें बहुधा प्रगति ही हुई दिखाई देती है। बन्दर से मनुष्य होने में विकास के साथ-साथ प्रगति ही हुई है। परन्तु ऐसे भी कुछ उदाहरण हैं, जिनमें विकास के साथ अवनति भी हुई है।

विकास के साथ अवनति होना कैसे संभव है, इसका एक काल्पनिक उदाहरण लीजिए। कुछ रोग ऐसे होते हैं कि उनका असर कमज़ोर आदमियों की अपेक्षा बलवान आदमियों पर बड़े ज़ोरों का होता है। फ़र्ज़ कीजिए कि ऐसा कोई रोग किसी जगह बहुत वर्षों तक जारी रहा। तब वहाँ कमजोरों की अपेक्षा बलवान आदमी उसके ज्यादा शिकार होंगे। ऐसी स्थिति में ज़िन्दा रहने की दृष्टि से कमज़ोरी उपयोगी गुण हो जायगा और सब लोग अशक्त हो जायँगे। यहाँ विकास के साथ अवनति भी अवश्य होती जायगी।

वेलडन् ने प्लाइमाउथ की खाड़ी में खेकड़ों पर जो प्रयोग किये, जिनका ज़िक्र पिछले एक अध्याय (चौथा अध्याय, पृष्ठ ९१) में किया गया है, उनमें भी खेकड़ों का जो विकास हुआ उसके साथ एक दृष्टि से उनकी अवनति भी हुई। प्राणिशास्त्र और वनस्पतिशास्त्र में परोपजीवी (Parasites) प्राणी और वनस्पतियों के सैकड़ों उदाहरण हैं। आम के वृक्ष का बान्दा एक ऐसे परोपजीवी वनस्पति का उदाहरण है। इन्हें परोपजीवी कहने का कारण यह है कि इन प्राणी और वनस्पतियों में अन्य प्राणी और वनस्पतियों की भाँति स्वयं अपना पेट भरने की शक्ति नहीं होती। कारण कि उनकी कुल रचना बहुत नीचे दर्जे की होती है। साधारण भोजन तक पचाने की शक्ति और साधन उनके

पास नहीं होते। इससे दूसरे अपने लिए जो भोजन तैयार कर रखते हैं उसपर ये घात लगाकर अपनी उपजीविका करते हैं। जिस आम्रवृक्ष पर यह होता है वह आम्रवृक्ष गिरा नहीं कि उसकी जिन्दगी भी समाप्त हो जाती है। क्योंकि उसमें ज़मीन से अपने-आप पोषक द्रव्य खींचकर उन्हें पचाने की शक्ति नहीं होती। प्राणियों के पेट में पटाट (उदर-कृमि) वग़ैरा जो छोटे-बड़े कीड़े मिलते हैं वे भी इसी श्रेणी में आते हैं।

ये परोपजीवी प्राणी और वनस्पति अन्य प्राणियों एवं वनस्पतियों के परिमाण में नीचे दर्जे के हैं—अर्थात् उनके परिमाण में ये अवनत स्थिति में हैं। परन्तु यदि हम यह देखें कि इन परोपजीवी प्राणियों का विकास कैसे हुआ, तो मालूम पड़ेगा कि उनका यह विकास उनसे ऊँचे दर्जे के प्राणियों से हुआ होना चाहिए। सृष्टि के बिलकुल आरम्भ में परोपजीवी प्राणियों और वनस्पतियों का अस्तित्व सम्भव नहीं। क्योंकि इनका अस्तिव दूसरों पर निर्भर है, ऐसी दशा में दूसरे लोग उत्पन्न हुए बिना इन परोपजीवी प्राणियों का जीना व्यर्थ है। यजमान का ही जब पता नहीं तब मिहमान की सुविधा कैसे हो ? अतः सृष्टि के आरम्भ में दूसरों से पहले इन परोपजीवी प्राणियों का उत्पन्न होना सम्भव नहीं है। तब यह स्पष्ट है कि इन परोपजीवी प्राणियों का विकास अवश्य ही स्वोपजीवी प्राणियों से हुआ होगा। अर्थात्,

इस उदाहरण में विकास के साथ-साथ अवनति भी हुई।

मतलब यह कि विकास के साथ प्रगति ही होनी चाहिए, यह कल्पना ग़लत है। विकास के साथ जैसे प्रगति होना सम्भव है, वैसे ही अवनति भी हो सकती है।*

समाप्त

---

* कुछ लोग जब विकास के साथ प्रगति होती है तब उसके लिए Evolution और जब अवनति होती है तब उसके लिए Devolution शब्द का व्यवहार करते हैं।

सस्ता-साहित्य-मण्डल

अ

ज

मे

र

के

मुख्य-मुख्य प्रकाशन

५

'त्यागभूमि'

१ गंभीर लेख

२ स्फूर्तिप्रद कवितायें

३ दिल उठाने वाली कहानियाँ

४ सुरुचिपूर्ण एवं कलामय चित्र

और

५ वार्षिक मूल्य केवल ४)

"मेरी राय में हिन्दी में सबसे अच्छी पत्रिका 'त्यागभूमि' है।"

जवाहरलाल नेहरू

"मैं हिन्दी में त्यागभूमि को सर्वोपरि मासिक-पत्रिका समझता हूँ।"

पुरूषोत्तमदास टण्डन